सर्वज्ञ कथित परम सामायिक धर्म

आचार्यप्रवर
श्री विजय कला पूर्ण सूरि जी

प्रकाशक

प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर
श्री जैन श्वे० नाकोड़ा पार्श्वनाथ तीर्थ, मेवानगर
मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

सर्वज्ञ-कथित परम सामायिक धर्म

आचार्यप्रवर
श्री विजयकलापूर्ण सूरिजी

प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर
तथा
श्री जैन श्वे. नाकोड़ा पार्श्वनाथ तीर्थ, मेवानगर
एवं
मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

☐ प्रकाशक :
देवेन्द्रराज मेहता
सचिव,
प्राकृत भारती अकादमी
३८२६, मोतीसिंह भोमियों का रास्ता
जयपुर–३०२००३

☐ पारसमल भंसाली
अध्यक्ष,
श्री जैन श्वे. नाकोड़ा पार्श्वनाथ तीर्थ
मेवानगर, स्टे. बालोतरा
३४४०२५, जि० बाडमेर

☐ नरेन्द्रप्रकाश जैन
पार्टनर,
मोतीलाल बनारसीदास
बंगलो रोड, जवाहरनगर
दिल्ली–११०००७

☐ अनुवादक—नैनमल सुराना

☐ प्रथम संस्करण : अप्रेल १९८९

☐ सर्वाधिकार प्रकाशकाधीन

☐ मूल्य : ४०.००

☐ मुद्रक :
श्रीचन्द सुराना के निदेशन में
दिवाकर प्रकाशन
ए–७ अवागढ़ हाउस, अंजना सिनेमा के सामने
एम० जी० रोड़, आगरा–२८२ ००२

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

इस युग के अशांत एवं ग्रन्थियुक्त जीवन में सामायिक धर्म का एक विशेष महत्व है। सामान्य भाषा में सामायिक का अर्थ समभाव से जीवन जीना है। परिस्थितियाँ अनुकूल हों या प्रतिकूल, पीड़ा हो या आनन्द, बिना विचलित हुए और संतुलित रूप से व्यक्ति अगर जीवन जीता है तो वह सामायिक की स्थिति में है। यह राग-द्वेष रहित जीवन है। जीवमात्र को अपनी स्वयं की आत्मा के समान मानकर उनके साथ आत्मतुल्य वृत्ति और व्यवहार रखना तथा उसमें उत्तरोत्तर विकास करना ही सामायिक धर्म की साधना है।

जीवन में ऐसी सामायिक—समभाव आते ही प्रसन्नता एवं पवित्रता का वातावरण स्थापित होने लगता है, शान्ति एवं समता का अनुभव होने लगता है।

सर्वज्ञ उपदिष्ट, सर्व-कल्याणकारी इस परम सामायिक धर्म का विशद स्वरूप क्या है ? उसकी अपार महिमा, उसके भेदोपभेद एवं प्रभेद, इसकी विश्व में व्यापकता, दुर्लभता एवं अनिवार्यता कितनी है ? उसके अधिकारी कौन हो सकते हैं ? आदि बिन्दुओं पर शास्त्रसापेक्ष सुन्दर भाव-युक्त विवेचन इस पुस्तक में हुआ है, जिसके पठन-मनन से तत्वप्रेमी जीवों को साधना के मार्ग पर अग्रसर होने की अपूर्व प्रेरणा प्राप्त होगी और अपूर्व बल प्राप्त होगा।

प्रस्तुत पुस्तक के संयोजक (लेखक) पूज्य आचार्य देव श्री विजयकला-पूर्ण सूरिजी महाराज हैं, जो अनेक शास्त्रों के ज्ञाता एवं एक उत्तम कोटि के साधक, सन्त महात्मा हैं। आप ज्ञान, ध्यान एवं भगवद्-भक्ति में अह-

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

निश रत रहकर जीवन में सामायिक धर्म की यथार्थ साधना करने का निरन्तर पुरुषार्थ कर रहे हैं।

पूज्य आचार्य महाराज को "सामायिक धर्म" के विषय में लिखने की प्रेरणा एवं मार्ग-दर्शन देने वाले पन्यास प्रवर श्री भद्रंकरविजयजी महाराज भी एक विरल कोटि के साधु पुरुष थे।

प्रस्तुत पुस्तक को प्राकृत भारती के पुष्प ५९ के रूप में प्रकाशित करते हुए हमें अत्यन्त प्रसन्नता है। आशा है, पाठक और साधक इसका स्वागत करेंगे और लाभान्वित होंगे।

नरेन्द्र प्रकाश जैन	पारसमल भंसाली	देवेन्द्रराज मेहता
पार्टनर	अध्यक्ष	सचिव
मोतीलाल बनारसीदास	जैन श्वे. नाकोड़ा	प्राकृत भारती
दिल्ली	पार्श्वनाथ तीर्थ	अकादमी,
	मेवानगर	जयपुर

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

आमुख

सामायिकं च मोक्षांगं, परं सर्वज्ञभाषितम् ।
वासीचन्दनकल्पाना-मुक्तमेतन्महात्मनाम् ॥१॥

—हरिभद्रीय अष्टक २९/१

सामायिक मोक्ष का प्रधान कारण है—यह सर्वज्ञ भगवन्तों का कथन है और उक्त सामायिक वासीचन्दनकल्प महात्माओं को होती है। वासीचन्दनकल्प अर्थात् वांसले के द्वारा कोई छेदन करे अर्थात् द्वेषभाव से कोई निन्दा, प्रहार अथवा अन्य प्रकार का उपद्रव करने पर अप्रसन्न न हो, और कोई चन्दन का विलेपन करे अर्थात् भक्ति, गुणगान अथवा अन्य किसी भी प्रकार से स्तुति, प्रशंसा अथवा सम्मान आदि करने पर प्रसन्न न हो; अर्थात् अनुकूल व्यवहार करने वाले व्यक्ति के प्रति राग नहीं रखे और प्रतिकूल व्यवहार करने वाले व्यक्ति के प्रति द्वेष न रखे।

वासीचन्दनकल्प का दूसरा अर्थ यह है कि जिस प्रकार चन्दन अपने उपर प्रहार करने वाले वांसले को भी सुगन्ध ही प्रदान करता है, उसी प्रकार से महात्मा भी अपकार करने वाले व्यक्ति के साथ भी उपकार ही करते हैं।

सामायिक में तीनों योगों की विशुद्धि होने से वह सर्वथा निरवद्य है, समस्त प्रकार के पापों से रहित है, तथा एकान्त कुशल आशय रूप है, तात्त्विक शुभ परिणाम रूप है।

जिनागमों में सामायिक के संक्षिप्त तीन भेद बताये हैं—

(१) साम, (२) सम और (३) सम्म।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

साम—यह "सामायिक" मधुर परिणाम रूप है। इस सामायिक में समस्त जीव राशि के प्रति आत्मतुल्य वृत्तिरूप स्नेह, परिणाम एवं मैत्रीभाव होता है। इसे सम्यग्दर्शन अथवा सम्यक्त्व सामायिक भी कहते हैं। जीव की शत्रु-मित्र अवस्था में समता रखने से "मधुर परिणाम" उत्पन्न होता है।

सम—यह सामायिक "तुल्य परिणाम" रूप है। हर्ष-शोक के संयोग में, सुख-दुःख अथवा मान-अपमान के प्रसंग में तुला की तरह—दोनों ओर तुल्य वृत्ति, मध्यस्थभाव इस सामायिक में होता है। पर्याय की गौणता एवं द्रव्य की मुख्यता के द्वारा यह सिद्ध होती है।

"श्रुतज्ञान" के अभ्यास के द्वारा ही तुल्य परिणाम उत्पन्न हो सकता है, जिससे उसे "श्रुत सामायिक" अथवा "सम्यग्-ज्ञान" भी कहते हैं। कर्म से जीव की भिन्नता का विचार अथवा कर्मदृष्टि से शुभाशुभ कर्म की समानता का विचार करने से "तुल्य परिणाम" प्रकट होता है।

सम्म—यह सामायिक "क्षीर शक्कर युक्त परिणाम" रूप है। यहाँ सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र की एकता, एकरूपता स्वरूप परिणाम होता है; जिससे इसे चारित्र सामायिक भी कहते हैं। मोक्ष का उपायरूप ज्ञान, क्रिया अथवा रत्नत्रयी में समान भाव ही क्षीर-शक्करयुक्त परिणाम है।

विशेष में से सामान्य में जाने से समता भावरूप सामायिक उत्पन्न होती है। विशेष अनेक रूप में होने से उसमें इष्ट-अनिष्ट की कल्पना अर्थात् विकल्पजाल उत्पन्न होता है।

सामान्य एकरूप होने से उसमें विकल्प नहीं होते।

"साम" एवं "सम" सामायिक जीवत्व सामान्य एवं द्रव्यत्व सामान्य के विचार से उत्पन्न होता है।

व्यक्ति के रूप में जीव भिन्न भिन्न होते हुए भी "जीवत्व" जाति सबकी एक ही है।

कहा भी है, "**सव्वभूयप्पभूयस्स**"—सर्वात्मभूत बना हुआ मुनि सम्यग् प्रकार से जीवों के स्वरूप को देखता हुआ और समस्त आस्रवों को रोकता हुआ पापकर्म नहीं बाँधता।

"श्री महानिशीथ सूत्र" में भी "साम" सामायिक का स्वरूप बताते हुए कहा है कि—"**गोयमा ! पढमं नाणं तओ दया।**" —"पहले ज्ञान प्राप्त

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

होता है, तत्पश्चात दया आती है," अर्थात् मेरी आत्मा को जिस प्रकार सुख प्रिय है और दुःख अप्रिय है, उसी प्रकार से विश्व के समस्त जीवों, प्राणियों, भूतों एवं सत्त्वों को सुख प्रिय होता है और दुःख अप्रिय होता है– इस प्रकार का ज्ञान होने से समस्त जीवों के प्रति दया (करुणा) की कोमल भावना, स्नेहभाव स्वरूप मैत्री प्रकट होती है।

"दयाए य सव्वजगजीवपाणभूयसत्ताणं अत्तसमदरिसितं ॥"

(दया–मैत्री के द्वारा समस्त विश्व के जीवों, प्राणियों, भूतों एवं सत्त्वों के प्रति आत्म समदर्शित्व की दृष्टि प्राप्त होती है।)

इससे उन जीवों को संघट्ट, परिताप, त्रास आदि दुःख देना अथवा भय उत्पन्न करना रुक जाता है, जिससे अनास्रव होता है, हिंसा आदि द्वारों का निरोध होता है और इनसे इन्द्रियों का दमन और कषायों का उपशमन होता है। दम-उपशम के द्वारा शत्रु-मित्र पर समभाव उत्पन्न होता है, जिससे राग-द्वेषरहितता आती है। रागद्वेषरहितता से कषाय-रहितता और कषायरहितता के द्वारा "सम्यग्दर्शन" प्राप्त होता है। सम्यक्त्व के द्वारा जीव आदि पदार्थों का परिज्ञान होता है, जिससे सर्वत्र निर्ममत्व-बुद्धि प्राप्त होती है। अज्ञान मोह और मिथ्यात्व का क्षय होने से "विवेक" प्राप्त होता है। विवेक से हेय-उपादेय वस्तु के चिन्तन में ही लक्ष्य रहता है जिससे अहित के त्याग एवं हित के आचरण में अत्यंत उद्यम होता है।

इस प्रकार का प्रबल पुरुषार्थ होने से परम पवित्र उत्तम क्षमा आदि दस प्रकार का अहिंसा लक्षणयुक्त धर्म करने और कराने में अत्यन्त अनुराग (प्रेम) उत्पन्न होता है और उस तीव्र धर्मानुराग के द्वारा सर्वोत्तम क्षान्ति, सर्वोत्तम मृदुता, सर्वोत्तम ऋजुता, बाह्य एवं आन्तरिक सर्व संग-परित्याग, सर्वोत्तम बाह्य एवं अभ्यन्तर घोर, वीर, उग्र एवं कठोर तप का आचरण करने में उल्लास उत्पन्न होता है; तथा सत्रह प्रकार के संयम के सम्पूर्ण अनुष्ठान के पालन करने का लक्ष्य बनता है; तथा सर्वोत्तम सत्यभाषित्व, सर्वोत्तम छः काय का हित और सर्वोत्तम अनिगूहित (बिना छिपाये) बल, वीर्य, पुरुषार्थ, पराक्रम का परितोलन एवं सर्वोत्तम स्वाध्याय एवं ध्यान रूपी जल के द्वारा पाप–कर्म–मल का प्रक्षालन करने वाला सर्वोत्तम धर्म प्राप्त होता है।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

शास्त्रकारों ने सामायिक की ऐसी अचिन्त्य महिमा का वर्णन किया है, जिसका पठन-मनन-परिशीलन करने से जीवन में सामायिक (समता भाव) प्रकट करने की रुचि उत्पन्न होती है और उसके उपायों का परिपालन (आचरण) करने का उत्तम बल प्राप्त होता है।

प्रस्तुत ग्रन्थ अभ्यासकर्ताओं एवं जिज्ञासुओं के लिए इस विषय की पर्याप्त सामग्री प्रदान करता है—यह हर्ष का विषय है।

—प० भद्रंकरविजय गणि

लुणावा [राजस्थान]
वि. संवत् २०३३, बसन्त पंचमी

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

योगाधिराज सामायिकधर्म

अनन्त ज्ञानी, अनन्त उपकारी श्री जिनेश्वर भगवान के शासन में मोक्ष की सम्पूर्ण साधना क्रमबद्ध भूमिका के रूप में वर्णित है। विश्व के समस्त दर्शनों द्वारा प्रदर्शित योग अथवा अध्यात्म आदि प्रक्रियाओं का इसमें अन्तर्भाव हो चुका है। सुविहित शिरोमणि पूज्य हरिभद्रसूरिजी महाराज के "योगबिन्दु",, "योगशतक" एवं "योगदृष्टि समुच्चय" आदि ग्रन्थों के अध्ययन, मनन से ये रहस्य अत्यन्त स्पष्टतया समझे जा सकते हैं।

जैन धर्म में प्रत्येक अनुष्ठान भावपूर्वक करने का विधान है। भाव की उत्पत्ति मन में होती है। मन की वृत्तियों पर वाचिक एवं कायिक प्रवृत्तियों का भी प्रभाव होता है।

जीवन-विकास-लक्षी किसी भी साधना की नींव में वचन और काया के द्वारा अशुभ प्रवृत्ति का त्याग और शुभ प्रवृत्ति का आचरण जैन दर्शन ने आवश्यक माना है। वाचिक एवं कायिक प्रवृत्तियों में से अशुभ तत्व हटाये बिना मानसिक शुभ वृत्तियाँ उत्पन्न होनी कठिन हैं। उत्पन्न हो उत्पन्न हो चुकी शुभ वृत्तियों को स्थायी रखना तो इससे भी अधिक दुष्कर है।

जैन दर्शन में निर्दिष्ट सामायिक धर्म की आगवी साधना इसी नींव पर आधारित है। सामायिक स्वीकार करने की प्रतिज्ञा में समस्त अशुभ प्रवृत्तियों का त्याग और शुभ प्रवृत्तियों का सेवन किया जाता है। इस कारण से ही समस्त प्रकार के योगों और अध्यात्म-प्रक्रियाओं का "सामायिक" में समावेश हो जाता है। कहा भी है कि—

सामायिकं गुणानामाधारः, खमिव सर्वभावानाम्।
न हि सामायिकहीना-श्चरणादिगुणान्विता येन॥

(अनुयोगद्वार सूत्र, टीका)

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

जिस प्रकार आकाश समस्त पदार्थों का आधार है, उसी प्रकार से सामायिक समस्त ज्ञान आदि गुणों का आधार है; क्योंकि सामायिक विहीन जीव चारित्र आदि गुण कदापि प्राप्त नहीं कर सकते। अतः जिनेश्वर देवों ने शारीरिक, मानसिक समस्त दुःखों के नाशक मोक्ष के अनन्य साधन के रूप में "सामायिक धर्म" को ही माना है।

सामायिक क्या है ?

जिसकी आत्मा संयम, नियम एवं तप से तत्पर बनी हुई है, तथा जो समस्त जीवों को आत्मवत् मानकर उनकी रक्षा करता है, उसे ही सर्वज्ञ-कथित वास्तविक "सामायिक" होती है।

समता की प्राप्ति अथवा ज्ञान आदि गुण सम्पत्ति की प्राप्ति सामायिक का सामान्य अर्थ है। "सामायिक" की विशिष्ट व्याख्या एवं उनके रहस्य "आवश्यक सूत्र निर्युक्ति" एवं "विशेषावश्यक-भाष्य" आदि ग्रन्थों में विस्तृत रूप से वर्णित हैं जिसके संक्षिप्त सार पर हम यहाँ विचार करेंगे।

सामायिक के मुख्य तीन भेद

(१) **साम**—यह सामायिक मधुर परिणाम रूप है।
(२) **सम**—यह सामायिक तुल्य (स्थिर) परिणाम रूप है।
(३) **सम्म (सम्यक्)**—यह सामायिक तन्मय परिणाम रूप है।

प्रथम साम सामायिक शक्कर के स्वाद तुल्य है और यह सम्यक्त्व सामायिक स्वरूप है।

द्वितीय सम सामायिक तराजू के समान है जो श्रुत सामायिक स्वरूप है।

तृतीय सम्म सामायिक खीर-शक्कर के समान है जो चारित्र सामायिक स्वरूप है।

उपर्युक्त तीनों प्रकार के परिणामों को आत्मा में प्रविष्ट कराना अर्थात् प्रकट करने का नाम सामायिक है।

(१) साम सामायिक का स्वरूप—

मैत्री, अहिंसा, करुणा, अभय, मृदुता, क्षमा, भक्ति आदि के भावों से युक्त आत्मा के परिणाम निर्मल होते हैं तब एक अपूर्व माधुर्य का अनुभव होता है।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

अभय किये बिना अभय की प्राप्ति नहीं हो सकती। भय से चित्त की भावनाएँ चंचल होती हैं। समस्त जीवों को अभय करना ही सम्पूर्ण अभय अवस्था प्राप्ति का अनन्य उपाय है।

मैत्री भाव से द्वेष की क्रूर भावना नष्ट हो जाती है, करुणा से हृदय कोमल बन जाता है, मृदुता अभिमान की कठोर वृत्तियों को तोड़ डालती है, क्षमा से क्रोधाग्नि शान्त हो जाती है और भक्ति से पूज्यों के समर्पण भाव प्रकट होता है।

ये समस्त गुण तथा मित्रा आदि दृष्टियों के साधकों में प्रकट होने वाले गुण इस "साम" सामायिक के द्योतक हैं; तथा अध्यात्म एवं भावना योग और प्रीति एवं भक्ति अनुष्ठान भी इस मधुर परिणाम रूप सामायिक को पुष्ट करता है।

योग के अंग रूप यम, नियम, आसन, प्राणायाम एवं धारणा की प्रकृष्ट साधना भी इस भूमिका में अवश्य दृष्टिगोचर होती है। दया-रसमय जिन शासन की आगम-सम्पत्ति भी अद्वितीय है जिसमें योग, अध्यात्म एवं धर्म के गम्भीर रहस्यों को अत्यन्त ही सूक्ष्म, स्पष्ट एवं व्यवस्थित रूप से प्रस्तुत किये हैं।

श्री आचारांग सूत्र के प्रथम अध्ययन में भी कहा है कि—"समस्त जीवों को आत्मवत् मानकर उनकी रक्षा करनी चाहिये, किसी को दुःख हो ऐसी कोई प्रवृत्ति नहीं करनी चाहिये, क्योंकि समस्त जीवों की रक्षा से ही संयम की सुरक्षा होती है और संयम की सुरक्षा से ही आत्मा की रक्षा होती है। अतः समस्त जीवों के प्रति मैत्री भाव रखकर उनकी हिंसा का त्याग करते हुए उन्हें पूर्णतः अभय करना चाहिए जिससे आपको भी अभय की प्राप्ति होती है।"

साम सामायिक का लक्षण

सर्व जीवमैत्रिभावलक्षणस्य (समस्य) आयः=समायः तदेव सामायिकं, सावद्य योगपरिहारनिरवद्ययोगानुष्ठानरूपो जीवपरिणामः॥

साम अर्थात् समस्त जीवों के प्रति मैत्री भावरूप समता, आय अर्थात् उसका लाभ, वही "सामायिक" है और वह सावद्ययोग-पाप व्यापार के त्याग स्वरूप और निरवद्ययोग-धर्म व्यापार के सेवन के रूप में आत्मा का परिणाम है।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

विशेष—यहाँ समस्त जीवों के प्रति मैत्री भाव को "समता" कहा है और वह आत्मपरिणामस्वरूप है, जिसका ध्यान छद्मस्थ को नहीं आ सकता। फिर भी उन परिणामों को हिंसा आदि पाप आस्रवों के त्याग से और अहिंसा आदि सदनुष्ठान के सेवन से जाना जा सकता है।

"योगविंशिका" में अहिंसा स्वरूप अभय का लक्षण बताया गया है कि—"देह के द्वारा समस्त जीवों को सम्पूर्णतः समस्त प्रकार से अभय करना सर्वश्रेष्ठ अभयदान है।" यह दान सर्वोत्तम होने से निम्न स्तर के मनुष्य इसे नहीं कर सकते। अभयदान दाता के हृदय में समभाव उत्पन्न करता है।

यह दानदाता यदि गुरुकुलवासी हो और आगम-अर्थ का ज्ञाता हो तो ही उसका दान सर्वोत्तम सिद्ध हो सकता है, अन्यथा नहीं क्योंकि अहिंसा के पूर्णतः पालन में नयसापेक्ष "षट् जीवनिकाय" का ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है। कहा भी है—"**पढमं नाणं तओ दया।**" —प्रथम ज्ञान और तत्पश्चात् अहिंसा। जिनवचन स्याद्वादगर्भित वचन हैं, अतः नयों का यथार्थ ज्ञाता एवं आगमों के अनुरूप जीवन यापन करने वाला मुनि ही अहिंसा का पूर्ण पालन कर सकता है।

इस लोक में अथवा परलोक में जीवों को कदापि किसी प्रकार का भय उत्पन्न न हो, इस प्रकार का व्यवहार करने वाला व्यक्ति ही "अभय दान" का दाता माना जाता है। यदि सर्वथा हिंसा से विरत होने की भावना वाला हो तो श्रावक को भी अंशतः देश से ऐसा अभयदान हो सकता है। इस भावना के बिना तो दान "देकर पुनः ले लेने" जैसा माना जाता है। उन्हें भय उत्पन्न हो ऐसा व्यवहार पुनः करना तो देकर छीन लेने के समान है।

ज्ञानदान अथवा अभयदान हो, परन्तु वे क्षमा एवं विरति से युक्त होने चाहिए, अन्यथा वे तिरस्कार के पात्र होते हैं, हास्यास्पद होते हैं, सत्कार एवं गौरव के पात्र कदापि नहीं होते। अहिंसा (अभय) को पूर्णतः सफल करने के लिये, शोभापात्र बनाने के लिए मैत्री एवं क्षमा को अग्र स्थान देना चाहिये। ज्ञान के बिना ज्ञानदान नहीं हो सकता, धन आदि सामग्री के बिना सुपात्रदान नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार से मैत्री के बिना वास्तविक "अभयदान" भी दिया नहीं जा सकता।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

ज्ञानदान के लिए ज्ञान-सम्पत्ति चाहिये, सुपात्रदान के लिये धन-सम्पत्ति चाहिये, इस तरह अभयदान देने वाले व्यक्ति के पास मैत्री, क्षमा एवं विरति रूपी भाव-सम्पत्ति होनी आवश्यक है। समता अभयदान का प्रधान फल है।

"साम" सामायिक में मैत्री और करुणा भावना की प्रधानता होती है। साम सामायिक धारण करने वाले साधक में मैत्री और करुणा भावना के निर्मल स्रोत सदा निरन्तर प्रवाहित होते ही रहते हैं।

"कोई भी जीव पाप न करे; कोई भी जीव दुःखी न हो; समस्त जीव कर्म मुक्त बनें"—ऐसी विशुद्ध भावना के बल से स्वयं साधक भी ऐसा जीवन व्यतीत करने का प्रयास करता है, जिससे कोई भी जीवात्मा किसी भी प्रकार की शारीरिक अथवा मानसिक वेदना प्राप्त न करे।

मैत्री भाव की मधुरता का आनन्द लेने वाले साधक को "साम सामायिक" अवश्य होती है। साम सामायिक मुख्यतः सम्यक्त्व सामायिक को सूचित करती है। सम्यग्दृष्टि एवं देश-विरति श्रावक भी उसका अधिकारी होता है।

साम सामायिक के अभ्यास से ही तुल्य परिणाम रूप "सम सामायिक" की प्राप्ति एवं सिद्धि होती है।

समता सर्वभूतेषु संयमः शुभ भावना।
आर्तरौद्रपरित्यागस्तद्धि सामायिकं व्रतम् ॥१॥

"समस्त जीवों के प्रति समता, मन, वचन और काया के पाप—व्यापार का त्याग रूप संयम; मैत्री, करुणा, प्रमोद एवं मध्यस्थ आदि भावना और आर्त्त एवं रौद्रध्यान का त्याग सामायिक व्रत है।"

यह श्लोक सामायिक का रहस्य स्पष्ट करता है।

सामायिक व्रत में अभयदान, मैत्री, क्षमा, संयम आदि भाव-सम्पत्ति का भी समावेश है, अर्थात् ये दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं।

समस्त जीवों के प्रति मैत्री रखने से संयम सुलभ होता है; मन, वचन और कायायोग की अशुभ प्रवृत्तियाँ रुक जाती हैं, तथा इन्द्रियों के विषयों एवं क्रोधादि कषायों पर नियन्त्रण होता है और उससे ही हिंसा आदि आस्रवों का निरोध होता है।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

ज्यों-ज्यों संयम साधना उत्कृष्ट बनती है,त्यों-त्यों मैत्री प्रगोद आदि भावनायें भी विशुद्ध होती जाती हैं और उससे आर्त्तरौद्रध्यान का सर्वथा परित्याग होने पर चित्त धर्मध्यान एवं शुक्ल-ध्यान में लीन होता है तथा धर्मध्यान एवं शुक्लध्यान के द्वारा मोक्ष प्राप्त होता है।

इस प्रकार समस्त जीवों के प्रति मैत्री संयम की साधक होती है। संयम मैत्री आदि भावनाओं को सुविशुद्ध करता है और विशुद्ध भावनायें अशुद्ध ध्यान का सर्वथा निरोध करके शुभ ध्यान उत्पन्न करती हैं।

सामायिक व्रत में मैत्री आदि भावना से जिनोक्त तत्त्व का चिन्तन होता है तब वह "अध्यात्म योग" कहलाता है और उस शुभ भावना का सतत अभ्यास "भावनायोग" है और उसके फलस्वरूप चित्त की शुद्धता में वृद्धि होने पर "ध्यानयोग" का प्रारम्भ होता है। इसके अनुसार "साम सामायिक" में तीन योग घटित हो सकते हैं। उपर्युक्त श्लोक में इन तीनों योगों का निर्देश है।

"सर्वभूतेषु समता" —समस्त जीवों के प्रति सामान्य मैत्री रखकर संयम का पालन करना "अध्यात्म योग" है। "शुभ भावना" "भावना-योग" को और "आर्त्तरौद्रपरित्यागः" "ध्यानयोग" को सूचित करता है। इन अध्यात्म आदि तीनों योगों का फल "समतायोग" है।

(२) **सम सामायिक का स्वरूप—**

राग-द्वेष के प्रसंगों में भी चित्त का सन्तुलन रखकर मध्यस्थ रहना, अर्थात् सर्वत्र समान व्यवहार करना उसे "सम" कहते हैं। सम, प्रशम, उपशम, समता, शान्ति आदि इसके ही पर्यायवाची नाम हैं। इसकी प्राप्ति के लिये विधिपूर्वक सत्शास्त्रों का अध्ययन करना आवश्यक है।

कर्माधीन जीव को इस संसार में प्रायः ऐसे अनेक प्रसंगों में से गुजरना पड़ता है जिसमें राग-द्वेष की वृत्तियाँ उत्पन्न हुए बिना नहीं रहतीं; परन्तु शास्त्रों के अध्ययन, मनन एवं परिशीलन से चित्त अभ्यस्त बना हुआ हो तो जड़ एवं चेतन पदार्थों के विविध स्वरूप एवं स्वभाव आदि का ज्ञान होने से इष्ट-अनिष्ट पदार्थों अथवा संयोग-वियोग के प्रसंगों में चित्त का सन्तुलन बनाये रख सकते हैं, मध्यस्थभाव अपना सकते हैं।

संयम-जीवन में शास्त्राध्ययन की अनिवार्यता है। शास्त्राध्ययन के लिए सद्गुरु की सेवा (उपासना) आवश्यक है। इस कारण ही गुरुकुल-

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

वास में रहकर पाँच-पाँच प्रहर तक सतत आगमाध्ययन करने का शास्त्रीय विधान है।

आगमिक ज्ञान से परिणत बने हुए मुनियों की चित्त-वृत्ति, अत्यन्त निर्मल एवं स्थिर होती जाती है, जिससे वे परमात्मा एवं आत्मा के ध्यान में मग्न होते हैं और ध्यान-मग्न मुनि "समता" प्राप्त करते हैं।

ध्यानाध्ययनाभिरतः प्रथमं पश्चात् तु भवति तन्मयता।
सूक्ष्मार्थालोचनया संवेगः स्पर्शयोगश्च ।।

(षोडशक)

"संयम अंगीकार करने वाले साधु की सर्वप्रथम शास्त्राध्ययन और ध्यानयोग में निरन्तर प्रवृत्ति होती है; तत्पश्चात् इन दोनों में तन्मयता हो जाती है, तथा तत्त्वार्थ के सूक्ष्म चिन्तन से तीव्र संवेग एवं स्पर्श-योग भी प्रकट होता है।"

इस प्रकार "सम परिणाम" वाली सामायिक में शास्त्र योग (वचन-अनुष्ठान) और ध्यानयोग की प्रधानता होती है; क्योंकि शास्त्राध्ययन अथवा ध्यानाभ्यास के बिना तात्विक समता प्रकट नहीं हो सकती।

अध्यात्म एवं योगशास्त्रों के अध्ययन से समस्त जीवों के साथ समानता एवं आत्मा के विशुद्ध स्वरूप का ज्ञान तथा उसमें तन्मय होने की कला ज्ञात होती है।

आगमिक ज्ञान से द्रव्यानुयोग आदि की सूक्ष्म तत्व दृष्टि प्राप्त होने पर धर्म-ध्यान एवं शुक्लध्यान का सामर्थ्य प्राप्त होता है। स्याद्वाद एवं कर्मवाद के अध्ययन-मनन से समस्त दर्शनों एवं समस्त जीवों के प्रति समदृष्टि एवं संसार की अनेक विचित्रताओं के मूलभूत कारणों का ज्ञान होने पर सत्यदृष्टि प्राप्त होती है। तुला के दोनों पलड़ों की तरह सर्वत्र समभाव प्रकट करने के लिये सत्शास्त्रों का अभ्यास एवं ध्यान का सतत सेवन करना आवश्यक है।

तुल्य परिणाम रूप सम सामायिक के लक्षण बताते हुए शास्त्रकार महर्षियों का कथन है कि—"**समस्य रागद्वेषान्तरालवर्तितया मध्यस्थस्य सतः आयः** (सम्यग्दर्शनादि लक्षण) **इति सामायः तदेव सामायिकम्**"।

राग-द्वेष के प्रसंगों में भी राग-द्वेष के मध्य रहने से अर्थात् मध्यस्थ होने से सम अर्थात् सम्यदग्र्शन आदि गुणों का लाभ होता है। वह "सम सामायिक" है।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

इस प्रकार सम सामायिक और समता की एकता ज्ञात होती है। तुल्य परिणाम रूप समता श्रुतज्ञान एवं ध्यान के सतत अभ्यास से प्रकट होती है; अर्थात् समता श्रुतज्ञान एवं शुभ ध्यान का फल है।

"योगबिन्दु" में ध्यान का फल बताते हुए कहा गया है कि—"चित्त की सर्वत्र स्वाधीनता, भाव (परिणाम) की स्थिरता और कर्म के अनुबन्ध का विच्छेद ध्यानयोग का फल है।"

श्रुतज्ञान के अभ्यास से चित्त-वृत्तियाँ जब स्थिर बनती हैं, तब ध्यान का प्रारम्भ होता है और उस ध्यान के सतत अभ्यास के पश्चात् चित्त स्वाधीन बनता है; अर्थात् चित्त साधक की इच्छा का अनुसरण करता है। मन की स्वाधीनता सिद्ध होने से आत्म-परिणाम विशुद्ध बनते हैं, सात्विक एवं उत्तम विचारों के प्रवाह से निम्न कोटि के विचारों का प्रवेश रुक जाता है; जिससे अशुभ कर्मों का बन्ध नहीं हो सकता।

मन की स्वाधीनता से अनेक प्रकार की लब्धियाँ एवं सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं, फिर भी योगी पुरुष उस ओर समता, मध्यस्थता और उदासीनता ही रखते हैं। शत्रु अथवा मित्र, राजा अथवा रंक, ग्राम अथवा नगर, तृण अथवा मणि में सर्वत्र तुल्य वृत्ति रखना ही समता है। कोई निन्दा करे अथवा प्रशंसा करे, कभी इष्ट संयोग प्राप्त हो अथवा कभी अनिष्ट संयोग प्राप्त हो तो भी सम्यग्ज्ञान के बल से "समताभाव" रखा जा सकता है क्योंकि यह श्रुतज्ञान का फल है।

सम सामायिक का महत्व

समता समस्त गुणों में सर्वोपरि है। उसका सर्वाधिक महत्व बताते हुए कहा है कि समता विहीन ज्ञान, ध्यान, तप, शील और सम्यक्त्व आदि गुण अपना वास्तविक फल देने में विफल सिद्ध होते हैं। समतावान् साधु जो गुणों का विकास एवं गुणस्थानक की उत्तरोत्तर भूमिका प्राप्त कर सकता है, वह ज्ञान आदि गुणों वाला समता विहीन व्यक्ति नहीं प्राप्त कर सकता।

जो समतावान् साधक समस्त जीवों (त्रस-स्थावर) के प्रति सम परिणाम वाला होता है, उसे ही सर्वज्ञ-कथित यह सामायिक होती है।

(३) सम्म (सम्यक्) सामायिक का स्वरूप—

सम्यक् परिणामस्वरूप इस सामायिक में सम्यक्त्व, ज्ञान एवं चारित्र का परस्पर सम्मिलन होता है। जिस प्रकार दूध में शक्कर मिल जाती है,

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

उसी प्रकार से आत्मा में रत्नत्रयी का परस्पर एकीकरण हो जाना ही 'सम्म सामायिक' है। इस सामायिक में शान्ति-समता का अस्खलित प्रवाह होने लगता है, चन्दन की सुगन्ध की तरह समता आत्मसात् बन गई होती है। कहा भी है—"जिस मुनि को आत्मा के शुद्ध स्वरूप का दर्शन और विशेष ज्ञान हुआ है अर्थात्—"मेरी आत्मा भी अनन्त ज्ञान आदि गुणपर्याय से युक्त है" ऐसी सम्यक् श्रद्धा एवं ज्ञान के साथ आत्म-स्वभाव में स्थिरता रमणता, तन्मयता प्राप्त हुई हो, उसे ही आत्म-स्वभाव की आनन्दानुभूति होती है। उन्हें ही "सम्म सामायिक" होती है।"

योग की सातवीं एवं आठवीं दृष्टि से प्राप्त होने वाले समस्त गुण इस सामायिक का स्वरूप स्पष्ट रूप से समझाने में सहायक होते हैं, तथा ध्यान की परम प्रीति, तत्वप्रतिपत्ति, शमयुक्तता, समाधिनिष्ठता, असंग-अनुष्ठान, आसंग आदि दोषों का अभाव, चन्दन-गंध सदृश सात्मीकृत प्रवृत्ति, निरतिचारता आदि सद्गुण भी इस भूमिका में अवश्य प्राप्त होते हैं।

ज्ञानसुधा के सागर तुल्य, परब्रह्म शुद्ध ज्योतिस्वरूप आत्म-स्वभाव में मग्न बने हुए मुनि को अन्य समस्त रूप—रस आदि पौद्गलिक विषयों की प्रवृत्ति विषतुल्य भयंकर एवं अनर्थकारी प्रतीत होती है। अन्तरंग सुख का रसास्वादन करने के पश्चात् बाह्य-सुख, सिद्धि एवं ख्याति की समस्त प्रवृत्तियों के प्रति उदासीनता हो जाती है।

विश्व के समस्त चराचर पदार्थों का जो स्याद्वाद दृष्टि से अवलोकन करता है ऐसे आत्मस्वभावमग्न मुनि को किसी को किसी भी पदार्थ का कर्तृत्व नहीं होता, केवल साक्षी भाव रहता है; अर्थात् तटस्थता से वह समस्त तत्त्वों का ज्ञाता होता है, परन्तु कर्त्ता होने का अभिमान नहीं कर सकता।

समस्त द्रव्य स्व-स्व परिणाम के कर्त्ता हैं, परन्परिणाम का कोई कर्त्ता नहीं है। इस भाव के द्वारा समस्त भावों का कर्तृत्व हटाकर साक्षी भाव रखने का अभ्यास किया जा सकता है।

इस सामायिक वाले साधु के चारित्र पर्याय की ज्यों-ज्यों वृद्धि होती जाती है, त्यों-त्यों उसके चित्त सुख (तेजोलेश्या) में वृद्धि होती जाती है। बारह महीनों के पर्यायवाले मुनि के सुख की तुलना अनुत्तरवासी देवों के सुख के साथ भी नहीं हो सकती; अर्थात् उनकी अपेक्षा भी मुनि का समता-

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

सुख विशिष्ट कोटि का होता है। स्वयंभूरमण समुद्र से स्पर्द्धा करने वाले समतारस में मग्न मुनि से उपमा दी जाये ऐसा कोई पदार्थ इस विश्व में नहीं है।

इस सामायिक में "सामर्थ्य योग" एवं असंग अनुष्ठान की प्रधानता होती है। "असंग अनुष्ठान" के सम्बन्ध में "ज्ञानसार" में भी कहा है कि —"वचन अनुष्ठान (शास्त्रोक्त क्रिया) के सतत सेवन से निर्विकल्प समाधिरूप असंग क्रिया की योग्यता प्रकट होती है और यह ज्ञान-क्रिया की अभेद भूमिका है, क्योंकि असंग भावरूप क्रिया शुद्ध उपयोग एवं शुद्ध वीर्योल्लास के साथ तादात्म्यता रखती है और वह आत्मा के सहज आनन्दरूप अमृत रस से आर्द्र होती है।

इस सामायिक में रहे हुए महामुनि ज्ञानामृत का पान करके, क्रियारूपी कल्पलता के मधुर फलों का भोजन करके और समता भाव रूपी ताम्बूल का आस्वादन करके परम तृप्ति का अनुभव करते हैं।

सम्म सामायिक का लक्षण

सम्यक्परिणामरूप सम्म सामायिक का स्वरूप बताते हुए शास्त्रकार महर्षि कह रहे हैं कि—"**समानां (मोक्षसाधन प्रति सदृश सामर्थ्यानां) सम्यग्-दर्शनज्ञानचारित्राणां आयः (लाभः) इति समायः तदेव सामायिकम्।**"

मोक्ष के साधक के रूप में समान सामर्थ्य रखने वाले सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र का लाभ "सामायिक" है। यहाँ रत्नत्रयी की एकता होने पर भी चारित्र की प्रधानता है। चारित्र की उपस्थिति में सम्यक्त्व एवं ज्ञान अवश्य होते हैं, परन्तु उसकी अनुपस्थिति में सम्यक्त्व एवं ज्ञान अल्प शक्तियुक्त होते हैं। चारित्र की प्राप्ति होते ही उन दोनों का सामर्थ्य प्रबल हो जाता है।

इस प्रकार साम, सम और सम्म परिणामरूप सामायिक में क्रमशः सम्यग्दर्शन, ज्ञान एवं चारित्ररूप रत्नत्रयी का समावेश है।

"समग्र मोक्षमार्ग सामायिक रूप है" —यह बात इस प्रकार सिद्ध हो जाने से समस्त प्रकार की योग-साधनाओं, अध्यात्म साधनाओं अथवा मंत्र-जाप-ध्यान आदि विविध अनुष्ठानों का उसमें अन्तर्भाव हो चुका है, यह मानने में तनिक भी अत्युक्ति नहीं है।

इस सर्वोत्तम सामायिकधर्म को स्वयं तीर्थंकर भगवान स्वीकार करते हैं और उसके सुविशुद्ध पालन से केवलज्ञान (सम्पूर्ण ज्ञान) प्राप्त

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

करके उसी सामायिक धर्म का उपदेश देते हैं। तीर्थ की स्थापना करने के पीछे भी सामायिक धर्म के दान का उदात्त उद्देश्य निहित है।

जिससे तरा जाये—भवसागर पार किया जा सके—वह तीर्थ होता है। चतुर्विध संघरूप अथवा द्वादशांगीरूप तीर्थ की सेवा से ही "सामायिक धर्म" की प्राप्ति हो सकती है।

सामायिक साध्य है तीर्थसेवा उसका साधन है। देव, गुरु एवं धर्म की सेवा (उपासना) तीर्थ की ही सेवा (उपासना) है। सामायिक के प्रतिज्ञासूत्र में अथवा उसकी साधनभूत अन्य प्रक्रियाओं में देव, गुरु और धर्म के निर्देश दिये गये हैं।

सामायिक के अतिरिक्त शेष पाँचों आवश्यकों का विधान "सामायिक" की ही पुष्टि के लिये हैं। "चतुर्विंशतिस्तव" और "वन्दन आवश्यक" के द्वारा देवाधिदेव अरिहन्त परमात्मा और सद्गुरु को स्तुति सेवा करने का निर्देश है। "प्रतिक्रमण" के द्वारा सामायिक धर्म की शुद्धि एवं "कायोत्सर्ग" तथा "प्रत्याख्यान आवश्यक" के द्वारा उसकी विशेष शुद्धि एवं पुष्टि होती है। परमार्थ से प्रत्येक सामायिक आदि आवश्यक शेष समस्त आवश्यकों के साथ संकलित हैं। एक एक आवश्यक में अन्य आवश्यक भी गौण भाव से समाविष्ट हैं। सामायिक सूत्र की रचना में गुम्फित शब्द ही यह रहस्य प्रकट करते हैं।

"**करेमि भंते सामाइयं**" ये शब्द "सामायिक" एवं "चउवीसत्थो" के सूचक हैं।

"**सावज्जं जोगं पच्चक्खामि**" ये शब्द प्रत्याख्यान बताते हैं।

"**तस्स भंते**" शब्द "गुरुवन्दन" को सूचित करते हैं।

"**पडिक्कमामि, निंदामि, गरिहामि**" शब्द "प्रतिक्रमण" के बोधक हैं।

"**अप्पाणं वोसिरामि**" पद "कायोत्सर्ग" को सूचित करता है।

इस प्रकार सामायिक में छःओं आवश्यक विद्यमान हैं, अतः सामा- जैनागम का—जैन शासन का—मूल है, द्वादशांगी का रहस्य है; भक्तियोग, ज्ञानयोग, कर्मयोग, चारित्रयोग, ध्यानयोग, अष्टांगयोग तथा समापत्ति, समाधि अथवा हठयोग, राजयोग आदि समस्त योगसाधनाओं का उसमें समावेश है, जिससे "सामायिक" योगाधिराज है।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

आवश्यक और आचार

सामायिक आदि आवश्यकों के द्वारा पाँचों ज्ञान आदि आचारों की शुद्धि एवं पुष्टि होती है।

(१) "सामायिक" के द्वारा सावद्य योग की विरति एवं निरवद्य योगों का सेवन होने से मुख्यतः चारित्राचार की विशुद्धि होती है।

(२) "चतुर्विंशतिस्तव" के द्वारा जिनेश्वर भगवानों के सद्भूत-गुणों का स्तवन (कीर्तन) होने से दर्शनाचार की विशुद्धि होती है। परमात्म-भक्ति सम्यग्दर्शन प्रकट करती है अथवा प्रकट किये गये सम्यग्दर्शन को अत्यन्त निर्मल बनाती है।

(३) "गुरुवन्दन" के द्वारा ज्ञान आदि गुणों से युक्त गुरु भगवंतों की प्रतिपत्ति (सेवा) होती होने से "ज्ञानाचार" आदि की विशुद्धि होती है।

(४) "प्रतिक्रमण" के द्वारा ज्ञान आदि आचारों के पालन में हुई स्खलनाओं की निन्दा, गर्हा, पश्चाताप आदि करके ज्ञान आदि आचारों की शुद्धि की जाती है।

(५) "कायोत्सर्ग" ध्यान एवं समाधियोगस्वरूप है। इसके द्वारा मन, वचन और काय योगों का प्रतिज्ञा पूर्वक निरोध किया जाता है; जिस से कायोत्सर्ग के द्वारा ज्ञान आदि आचारों की विशेष शुद्धि होती है।

(६) "प्रत्याख्यान" के द्वारा उपवास आदि तप की आराधना होने से "तपाचार" की विशुद्धि होती है।

उपर्युक्त छःओं आवश्यकों की आराधना (उपासना) के द्वारा आत्मवीर्य (आत्मशक्ति) की वृद्धि होती है जिससे "वीर्याचार्य" की शुद्धि और पुष्टि होती है।

वर्तमान में सामायिक का प्रयोग

सामायिक विशुद्ध समाधिस्वरूप है और वह जिन-भक्ति, गुरुसेवा आदि के सतत अभ्यास से ही सिद्ध होती है। इस कारण ही सामायिक लेने की विधि में भी छःओं आवश्यकों का संग्रह किया गया है, जो निम्न-लिखित है—

(१) सर्व प्रथम दिया जाने वाला "खमासमण" गुरुवन्दन को सूचित करता है।

(२) "इर्यावहियं" प्रतिक्रमण व्यक्त करता है।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

(३) एक लोगस्स का काउस्सग्ग "कायोत्सर्ग" का बोधक है।

(४) प्रकट लोगस्स "चतुर्विंशतिस्तव" का बोधक है।

(५-६) "करेमि भन्ते" सूत्र के उच्चार के द्वारा "सामायिक" एवं सावद्य योग के "प्रत्याख्यान" का निर्देश है।

इस प्रकार "सामायिक धर्म" की आराधना और उसे स्वीकार करने की स्मृति कराने के लिये श्रमण संघ में प्रतिदिन नौ बार "करेमि भन्ते सूत्र" का प्रयोग होता है और श्रावक संघ के लिये "बहुसो सामाइयं कुज्जा" बार बार सामायिक करने का शास्त्रीय विधान है। सामायिक ग्रहण करने की विधि में जिस प्रकार छः आवश्यकों की व्यवस्था की गई है; उसी प्रकार से "प्रतिक्रमण" की विधि में भी विस्तृत रीति से छः आवश्यकों की आराधना का समावेश है।

चतुर्विध संघ में उभय काल "प्रतिक्रमण आवश्यक" की विधि अत्यन्त प्रसिद्ध है; अवश्य करने योग्य कर्त्तव्यों के रूप में सभी लोग इनसे परिचित हैं।

सामायिक एवं प्रतिक्रमण आदि आवश्यक प्रक्रियायें प्रणिधान, भावोल्लास एवं एकाग्रता पूर्वक करने से उनके सूक्ष्म रहस्य एवं उत्तम परिणाम साधक के अनुभव में आये बिना नहीं रहते।

सामायिक और प्रतिक्रमण ध्यान एवं सामाधि स्वरूप हैं इसकी भी प्रतीति होगी।

उपयोग (एकाग्रता) पूर्वक की जाने वाली "सामायिक" आदि आवश्यकों की आराधना "महान् राजयोग" एवं "समाधियोग" है।

इस प्रकार 'सामायिकधर्म' समस्त योगों का सार एवं समस्त योगों का सिरमौर होने से "योगाधिराज" है।

जिनकी कृपा, प्रेरणा एवं मार्गदर्शन के बल से सामायिक धर्म के परम रहस्यों को यत्किंचित रूप में समझने के लिये, आत्मसात् करने के लिये और स्व-पर आत्मा के हितार्थ भाषाबद्ध करने के लिये स्वल्प उद्यम कर सका हूँ; उन परमोपकारी, पूज्यपाद पन्यास प्रवर श्री भद्रंकर विजय जी महाराज के अगणित उत्तम गुणों एवं मुझ पर किये गये असीम उपकारों को बार बार स्मरण करने के साथ उनके पावन चरण कमलों में अनन्तशः वन्दना करके कृतार्थता-कृतज्ञता का अनुभव करता हूँ।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

अन्त में इस ग्रन्थ–लेखन में शास्त्रकार ज्ञानी पुरुषों के आशय से विरुद्ध जाने–अजाने कुछ भी लिखा गया हो उसके लिये त्रिविध से "मिच्छामि दुक्कडम्" देकर सभी मुमुक्षु आत्मा इस सामायिक धर्म के उपासक (आराधक) बनें यही मंगल कामना।

—आचार्य विजयकलापूर्ण सूरि

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

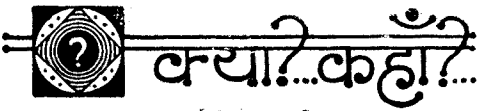

अध्याय		पृष्ठ
	विभाग १	१-७०
(१)	**सामायिक का महत्व** जिनागम का उद्‌भव, छः आवश्यक; एवं उनमें प्रथम सामायिक	१
(२)	**सामायिक का स्वरूप** (१) आवश्यक के पर्यायवाची (२) सामायिक क्या है ? (३) सामायिक के प्रकार (४) सामायिक के अधिकारी कौन ?	६
(३)	**सामायिक प्राप्ति का पूर्वाभ्यास** सर्वविरति सामायिक प्राप्ति के उपाय, देशविरति सामायिक प्राप्त के उपाय, श्रुत एवं सम्यक्त्व सामायिक प्राप्ति के उपाय	१२
(४)	**सामायिक की विशालता**	१७
(५)	**सामायिक का विषय** सामायिक की दुर्लभता	४१
(६)	**सामायिक की स्थिति** उत्कृष्ट स्थिति, जघन्य स्थिति	४८
(७)	**सामायिक की व्यक्ति की संख्या आदि द्वार** तीनों प्रकार की सामायिक वाले जीवों का अल्प बहुत्व सामायिकवान जीवों की जघन्य-उत्कृष्ट संख्या की विशेषता, आकर्षद्वार पर विवेचन	५१
(८)	**निरुक्तिद्वार** (१) सम्यक्त्व सामायिक के नाम (२) श्रुत सामायिक के	६१

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

पर्यायवाची नाम (३) देशविरति सामायिक की निरुक्ति (४) सर्वविरति सामायिक के पर्यायवाची नाम

(९) **सामायिक सूत्र एवं रहस्यार्थ** ६६
मोक्ष साधक अनुष्ठान कैसा होता है ? नमस्कार का फल

विभाग २—सामायिक सूत्र ७१-१२४

सामायिक सूत्र ७३
सामायिक सूत्र में समाविष्ट १३ विन्दु, गुरुवन्दन के महान् लाभ; सामायिक पद का रहस्य; तीन प्रकार की सामायिक; आत्मा की तीन अवस्था; समिति-गुप्ति का लक्षण और कार्य; मनोगुप्ति एवं सामायिक; निषेधात्मक सामायिक का स्वरूप

विभाग ३—परिशिष्ट १२५-१६८

(१) **समापत्ति एवं सामायिक** १२७
समापत्ति का लक्षण; समापत्ति की सामग्री नाम आदि निक्षेप एवं समापत्ति; ध्येयरूप अरिहन्त परमात्मा के चार निक्षेप

(२) **समापत्ति एवं समाधि** १३३
समग्र मोक्षमार्ग का (समापत्ति) समाधि में समावेश, समाधि का स्पष्ट लक्षण; समापत्ति के साधन।

(३) **समापत्ति एवं गुणश्रेणी** १४८
गुणश्रेणी, भावधर्म एवं समापत्ति

(४) **समापत्ति एवं कायोत्सर्ग** १५५
परिपाचना का अतिशय; कायोत्सर्ग एवं समाधि की एकता; कायोत्सर्ग का स्वरूप; कायोत्सर्ग में ध्येय; कायोत्सर्ग में समस्त आस्रव निरोध; कायोत्सर्ग से कर्मक्षय (निर्जरा), कायोत्सर्ग एवं जिनाज्ञा; कायोत्सर्ग एवं योग; कायोत्सर्ग एवं शुद्धात्मानुभव।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

१. सामायिक का महत्व

अनन्तानन्त श्री तीर्थंकर भगवान जिस सामायिक धर्म को अङ्गीकार करके, जीवन में उसका साक्षात्कार करके केवलज्ञानी बनते हैं, सर्वप्रथम वे उसी सामायिक धर्म का उपदेश देते हैं।

इसी प्रकार से चरम तीर्थाधिपति श्री महावीर भगवान ने भी सर्वप्रथम सामायिक धर्म का उपदेश दिया है। वह उपदेश आज भी आगम ग्रन्थों में यथार्थ रूप में विद्यमान है, जिसके अध्ययन-मनन से हम सब सामायिक धर्म में यथाशक्ति श्रद्धा से एवं उसके आचरण के द्वारा आत्मिक आनन्द का आंशिक रूप में अनुभव कर सकते हैं।

जिनागम का उद्भव

जिनागमों की किस प्रकार, किसके द्वारा रचना की गई, इस सम्बन्ध में आगम ग्रन्थों में एक सुन्दर रूपक के द्वारा उन्हें स्पष्ट किया गया है।

तप, नियम एवं ज्ञान रूपी वृक्ष पर आरूढ़ अपरिमित ज्ञानी श्री तीर्थंकर भगवान भव्य आत्माओं को बोध देने के उद्देश्य से वचन रूपी पुष्पों की वृष्टि करते हैं, जिसे गणधर भगवन्त बुद्धिमय पट (वस्त्र) के द्वारा सम्पूर्णतया ग्रहण करके प्रवचन-शासन के हितार्थ सूत्र रूप में गुम्फित करते हैं।[1]

तीर्थ की स्थापना करने के पश्चात् तीर्थंकर भगवान जो अर्थ स्वरूप प्रवचन देते हैं उसे बीज-बुद्धि-निधान श्री गणधर भगवान सूत्रबद्ध करते हैं, जिससे श्रुत बनते हैं।[2]

---

१ तव नियमनाणरुक्खं आरूढो केवली अमियनाणी।
तो मुयइ नाणवुट्ठिं भवियमणविबोहणट्ठाए॥
तं बुद्धिमएण पटेण गणहरा गिण्हिउ निरवसेसं।
तित्थयर भासियाइं गंथंति तओ पवयणट्ठा॥

२ अत्थं भासइ अरहा सुत्तं गंथंति गणहरा निउणं।
सासणस्स हियट्ठाए तओ सुत्तं पवत्तइ॥९२॥ —आवश्यक निर्युक्ति

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

इस प्रकार प्रत्येक आगम ग्रन्थ का मूल जिनेश्वर भगवान के उपदेश में निहित है। इस कारण ही तो आगम "जिनागम" कहलाते हैं और उन्हें जिनेश्वर भगवान की तरह ही पूजनीय एवं आदरणीय माना जाता है।

परमात्मा द्वारा उपदिष्ट मोक्ष-मार्ग युग-युगान्तर तक भव्य आत्माओं का आलम्बन-भूत बनकर संसार-तारक बना रहे और इस मोक्ष-मार्ग की आराधना अविच्छिन्न रूप से चलती रहे, ऐसी कल्याण कामना से ही गणधर भगवान प्रभु की वाणी को शब्द-देह प्रदान करते हैं, द्वादशाङ्गी की रचना करते हैं।

सूत्र-बद्ध आगम ग्रन्थों की महानता, गम्भीरता एवं गहनता को विशिष्ट प्रज्ञावान महापुरुषों के अतिरिक्त कोई भी नहीं नाप सकता। मन्द-बुद्धि व्यक्तियों का तो उसमें चंचु-पात होना भी असम्भव है, परन्तु विश्व मात्र की कल्याण-भावना से परिपूर्ण हृदय वाले महान उपकारी, महान् ज्ञानी, गीतार्थ महापुरुषों ने आगम ग्रन्थों के गुप्त रहस्यमय गम्भीर तथ्यों को स्पष्ट, स्पष्टतर एवं स्पष्ठतम करने के लिए इन आगम ग्रन्थों पर क्रमशः निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि एवं वृत्ति आदि की विशद रचनाएँ की हैं, जिसका गीतार्थ सद्गुरुओं से अध्ययन, पठन एवं मनन करके मन्द-बुद्धि मुमुक्षु आत्मा भी आत्मिक उत्थान का मार्ग-दर्शन प्राप्त करके स्व-पर के आत्म-कल्याण की साधना करते-करते साध्य-सिद्धि प्राप्त कर सकते हैं।

समस्त जिनागमों में "आवश्यक सूत्र" का स्थान-मान अग्रगण्य एवं अद्वितीय है, जिसमें चतुर्विध संघ के दैनिक कर्तव्यस्वरूप आवश्यक क्रिया का विशद निरूपण किया गया है।

छः आवश्यक और उनमें प्रथम सामायिक—

(१) सामायिक आवश्यक।
(२) चतुर्विंशतिस्तव आवश्यक।
(३) गुरु-वन्दन आवश्यक।
(५) प्रतिक्रमण आवश्यक।
(५) कायोत्सर्ग आवश्यक।
(६) प्रत्याख्यान आवश्यक।

केवल-ज्ञानी बनने के पश्चात् अरिहन्तों द्वारा स्व-मुख से भाषित तथा विचक्षण बुद्धिधारी गणधरों द्वारा भावी शासन के हितार्थ रचित श्रुत क्या है? उसका उत्तर देते हुए कहा गया है कि सामायिक से लगाकर

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

बिन्दुसार (चौदहवें पूर्व) तक श्रुतज्ञान है। उक्त श्रुतज्ञान का सार चारित्र (सामायिक) है और चारित्र का सार निर्वाण-मोक्ष सुख है।[1]

इस प्रकार "सामायिक धर्म" प्रभु का प्रमुख उपदेश होने से प्रथम उस विषय में ही विचार करेंगे।

"सामायिक" आवश्यक का मूल है, जिन-शासन का प्रधान अंग है। अत्यन्त अद्भुत है इसका प्रभाव एवं प्रताप! शमन हो जाते हैं इससे आधि, व्याधि एवं उपाधि के समस्त ताप एवं सन्ताप!

सामायिक **दिव्य ज्योति** है, जो मोहान्धकार से व्याप्त इस विश्व में मोक्ष-मार्ग को प्रकाशित करती है, अज्ञानतिमिराच्छादित जीवों के मन-मन्दिर में सम्यग्ज्ञान की ज्योति प्रसारित करती है।

सामायिक **अकल्पीय चिन्तामणि** है, अपूर्व कल्प-वृक्ष है, जिसके प्रभाव से साधक की साधना फलवती होती है और समस्त शुभ कामनाएँ पूर्ण होती हैं।

सामायिक **सर्वत्रगामी चक्षु** है। प्रशमरसमग्न मुनि ज्ञान-चक्षुओं के खुलने पर क्रमशः समस्त पदार्थों का ज्ञाता एवं द्रष्टा हो जाता है।

सामायिक **परम मन्त्र** है, जिसके प्रभाव से राग-द्वेष का मारक विष भी पल भर में उतर जाता है।

सामायिक **जिनाज्ञा स्वरूप** है।

आश्रव के सर्वथा त्याग एवं संवर के स्वीकार को जिनाज्ञा कहते हैं।

सामायिक के द्वारा समस्त पापों का परिहार एवं ज्ञान आदि सदनुष्ठानों का सेवन होता है। अतः उसमें समस्त आस्रवों का निरोध एवं सम्पूर्ण संवर भाव समाविष्ट है।

सामायिक जिनाज्ञा की तरह समस्त शास्त्रों एवं अनुष्ठानों में व्याप्त है।

१. सामायिक में रत्नत्रयी है, रत्नत्रयी में सामायिक है :—

श्रुत-सामायिक "सम्यग्ज्ञान" स्वरूप है।

सम्यक्त्व सामायिक "सम्यग्-दर्शन" स्वरूप है।

चारित्र सामायिक "सम्यक्-चारित्र" स्वरूप है।

---

१ सामाइयमाईयं सुयनाणं जावं बिन्दुसाराओ।
तस्स वि सारं चरणं, सारो चरणस्स निव्वाणं ॥९३॥ —आवश्यक निर्युक्ति

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

२. सामायिक में तत्त्वत्रयी एवं तत्वत्रयी में सामायिक :—

सामायिक सूत्र में प्रथम "भन्ते" शब्द देव तत्त्व का सूचक है, अन्तिम "भन्ते" शब्द गुरु तत्त्व का सूचक है और "सामायिक" शब्द चारित्र-धर्म का सूचक है।

देवाधिदेव अरिहन्त परमात्मा में सम्पूर्ण चारित्र निहित है, गुरु तत्त्व में सर्वविरति चारित्र है और धर्म तो स्वयं सामायिक स्वरूप है ही।

इस प्रकार सामायिक, रत्नत्रयी और तत्त्वत्रयी परस्पर एक दूसरे से संकलित हैं।

३. सामायिक में पंच परमेष्ठि और पंच परमेष्ठि में सामायिक :—

उपर्युक्त तत्त्वत्रयी में "देव तत्त्व" अरिहन्त एवं सिद्ध स्वरूप है।

गुरु तत्त्व आचार्य, उपाध्याय एवं साधु स्वरूप है।

धर्म तत्त्व सम्यग्ज्ञान, दर्शन, चारित्र एवं तप स्वरूप है।

इस प्रकार नव पद (नौ पद) एवं सामायिक भी एक-दूसरे में सन्निहित है।

सामायिक में शरणागति, दुष्कृत-गर्हा एवं सुकृत अनुमोदन भी निहित है।

'भन्ते' पद से अरिहन्त आदि की शरणागति स्वीकार की जाती है।

पडिक्कमामि, निंदामि, गरिहामि पदों के द्वारा स्वदुष्कृतों की निन्दा की जाती है।

'करेमि सामाइयं' पद से सुकृत का सेवन एवं अनुमोदन होता है।

सामायिक मोक्ष का अनन्य कारण है।

'ज्ञानक्रियाभ्याम् मोक्षः'—सम्यग्ज्ञान और क्रिया दोनों के सम्मिलन से ही मोक्ष होता है।

सामायिक ज्ञान एवं क्रिया उभय स्वरूप है।

नमस्कार महामन्त्र के उच्चारण पूर्वक ही सामायिक स्वीकार की जाती है।

नमस्कार महामन्त्र पंच मंगल श्रुतस्कन्ध स्वरूप द्वादशांगी का सार होने से सम्यग्ज्ञान स्वरूप है और सामायिक सम्यग्-चारित्र स्वरूप होने से सम्यक् क्रिया है।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

इस प्रकार श्रुत सामायिक ज्ञान स्वरूप एवं चारित्र सामायिक सम्यक् क्रिया स्वरूप है।

सामायिक में रत्नत्रयी, तत्त्वत्रयी, पंच परमेष्ठी, षड् आवश्यक, पंचाचार, पंच महाव्रत और अष्ट प्रवचन माता तथा दस यतिधर्म आदि समस्त मोक्ष-साधक सदनुष्ठान संग्रहीत हैं। इस कारण ही 'सामायिक' को अत्यन्त विशाल, गम्भीर एवं सर्व धर्म-व्यापी मानी गई है।

सामायिक शाश्वत है, क्योंकि—

नमस्कार महामन्त्र के द्वारा 'करेमि भन्ते' सूत्र का उच्चार करने से सामायिक की प्रतिज्ञा पूर्ण होती है और समस्त कालों में, समस्त क्षेत्रों में प्रत्येक तीर्थंकर परमात्मा भी इस सूत्र के द्वारा ही सर्वविरति अंगीकार करते हैं।

सामायिक श्रुतज्ञान है, चौदह पूर्व का सार है तथा उसका बीज स्वरूप है।

शब्दों के परिणाम से यह अल्पाक्षरी है, फिर भी अर्थ से यह अत्यन्त विशाल एवं गम्भीर है। समग्र द्वादशांगी का अर्थ इसमें समाविष्ट है।

सामायिक समस्त गुणों में व्याप्त है; समस्त गुणों का, समस्त महाव्रतों का आधार सामायिक है। समता भाव के बिना तो समस्त अनुष्ठान निरर्थक, निष्फल माने जाते हैं।

आज तक जो पुण्यात्मा मोक्ष गये हैं, जा रहे हैं, और जायेंगे वह सब **सामायिक धर्म** का ही अकल्पनीय प्रभाव है।

सामायिक सूत्र में छहों आवश्यकों का निर्देश—

षड् आवश्यकों का मूल सूत्र सामायिक सूत्र (करेमि भन्ते) है जिसमें छहों आवश्यक गर्भित रूप में निहित हैं, वे इस प्रकार हैं—

(१) 'सामाइयं' पद 'सामायिक आवश्यक' को सूचित करता है।

(२) प्रथम 'भन्ते' पद से 'चतुर्विंशतिस्तव आवश्यक' सूचित होता है।

(३) द्वितीय 'भन्ते' पद से 'गुरु वन्दन आवश्यक' सूचित होता है।

(४) 'पडिक्कमामि' पद 'प्रतिक्रमण आवश्यक' का सूचक है।

(५) 'अप्पाणं वोसिरामि' पद के द्वारा 'कायोत्सर्ग आवश्यक' ज्ञात होता है।

(६) 'पच्चक्खामि' पद 'पच्चक्खाण आवश्यक' को सूचित करता है। ❋

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

२. सामायिक का स्वरूप

सामायिक धर्म की व्यापकता एवं प्रभाव के सम्बन्ध में यह अल्प विचार किया गया। अब चतुर्दश पूर्वधर श्री भद्रबाहु स्वामीकृत 'आवश्यक निर्युक्ति' एवं श्री जिनभद्र क्षमाश्रमण द्वारा रचित 'विशेषावश्यक भाष्य' के आधार पर सामायिक क्या है ? उसके कितने प्रकार हैं ? सामायिक किसे कहते हैं ? यह किस प्रकार प्राप्त होती है ? कितने समय ठहरती है और उसका फल क्या है ? आदि अनेक बातों पर हम विशद चिन्तन करेंगे।

छः आवश्यकों में 'सामायिक' का प्रथम स्थान है। शेष पाँचों आवश्यक सामायिक के ही भेद हैं, अंग हैं अर्थात् वे सामायिक को ही पुष्ट करने वाले हैं। सामायिक अर्थात् समता की साधना जितनी अधिक पुष्ट होगी उतने ही शेष पाँचों आवश्यक अधिकाधिक आत्मसात् होकर कर्म-निर्जरा में अनन्य सहायक होते हैं। इस प्रकार सामायिक अर्थात् समता भाव युक्त अन्य पाँच आवश्यकों की आराधना परमपद प्राप्त कराती है।

(१) **आवश्यक के पर्यायवाची नाम**—

पर्यायवाची शब्दों के ज्ञान से मूलभूत पदार्थ को समझने में अत्यन्त सरलता होती है, अर्थ भी अधिक स्पष्ट होता है। सामायिक की सर्वगुण-सम्पन्नता एवं विशिष्टता का बोध होने के लिए पर्यायवाची शब्दों का ज्ञान उपयोगी है।

आवश्यक, अवश्य-करणीय, ध्रुव, निग्रह, विशुद्ध, अध्ययन षट्क, वर्ग, न्याय, आराधना और मार्ग—ये दसों शब्द सामान्यतः एकार्थक हैं; फिर भी प्रत्येक शब्द किसी न किसी विशिष्ट गुणधर्म का वाचक है। अतः उपर्युक्त पर्यायवाची शब्द अपना विशिष्ट अर्थ बताकर मूलभूत पदार्थ सामायिक की विशिष्टता को ही अधिक स्पष्ट करते हैं, जो इस प्रकार है :

(१) आवश्यक —चतुर्विध संघ के दिन एवं रात्रि में जो अवश्य करने योग्य हैं।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

(२) अवश्यकरणीय—मुमुक्षु आत्मा के पाप से मुक्त होने के लिये जो नियमित आचरण योग्य है।

(३) ध्रुव —यह सामायिक शाश्वत है। अर्थ से यह अनादि, अनन्त है।

(४) निग्रह —जिससे इन्द्रियों एवं कषाय आदि शत्रुओं का दमन (निग्रह) किया जाता है। सामायिक (समता भाव) द्वारा ही विषय-कषायों के आवेश पर नियन्त्रण किया जा सकता है।

(५) विशुद्ध —जो कर्म से मलिन बनी आत्मा को निर्मल (विशुद्ध) करता है।

(६) अध्ययन-षट्क—जो सामायिक आदि छः अध्ययनात्मक है।

(७) वर्ग —जिससे राग-द्वेष आदि दोषों के समूह का परिहार होता है अथवा जो छः अध्ययन का एक वर्ग है, समूह है।

(८) न्याय —जो इष्ट अर्थ को सिद्ध करता है, जो मोक्ष का अमोघ उपाय है, जिसके द्वारा कर्म-शत्रुओं द्वारा छीन ली गई अपनी गुण-सम्पत्ति आत्मा को पुनः प्राप्त होती है।

(९) आराधना —आराध्य—मोक्ष-प्राप्ति के उद्देश्य से की जाती है वह, आराधना 'सामायिक' आदि मोक्ष के अनन्य साधन हैं, अतः 'आराधना' है।

(१०) मार्ग —जो मोक्ष नगर में पहुंचा देता है; जिस प्रकार मार्ग पर चलने वाला व्यक्ति इच्छित स्थान पर पहुँच सकता है, उसी प्रकार से मोक्षाभिलाषी आत्मा के लिये सामायिक आदि राज-मार्ग हैं।

इस प्रकार सामायिक प्रथम आवश्यक होने से उपर्युक्त दसों नामों के विशेष अर्थ सामायिक में भी समाविष्ट हैं; अर्थात् उपर्युक्त समस्त गुणों की सिद्धि सामायिक के द्वारा होती है, अतः इसके 'आवश्यक' आदि नाम भी यथार्थ हैं। कहा भी है कि—"समभाव स्वरूप सामायिक आकाश की तरह समस्त गुणों की आधार है।" सामायिक-विहीन व्यक्ति वास्तव में किसी भी गुण का विकास नहीं कर सकता, आत्म-लक्ष्यी साधना की कोई

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

भी सिद्धि प्राप्त नहीं कर सकता। श्रुत, सम्यक्त्व एवं विरति स्वरूप तीन प्रकार की सामायिक में समस्त गुणों का अन्तर्भाव हुआ है; क्योंकि ज्ञान, दर्शन और चारित्र से बढ़कर अन्य कोई सद्गुण इस विश्व में नहीं है, अर्थात् समस्त गुणों का रत्नत्रयी में समावेश हो जाता है। इस कारण ही तो रत्नत्रयी स्वरूप सामायिक में समस्त धर्मानुष्ठान, समस्त योग, एवं समस्त गुण समाविष्ट ही हैं। इस रत्नत्रयी की उज्ज्वल आराधना ने अनन्त आत्माओं को शाश्वत सुख प्रदान किया है और करेगा।

(२) सामायिक क्या है ?

जिन-शासन स्याद्वादमय है, जहाँ प्रत्येक पदार्थ का निरूपण स्याद्वाद शैली से ही किया जाता है।

स्याद्वाद एक ही पदार्थ में निहित विभिन्न धर्मों का गौण एवं प्रमुख रूप से निरूपण करके पदार्थ के स्वरूप का पूर्ण ज्ञान कराता है।

सामायिक धर्म विषयक प्रस्तुत चिन्तन भी अनेकान्तदृष्टि से ही प्रस्तुत किया जाता है। जिसका इतना अद्भुत माहात्म्य जिनागमों में मुक्त कण्ठ से गाया गया है, वह सामायिक क्या है ? किसी भी जिज्ञासु के हृदय में यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है।

सामायिक क्या जीव है, जड़ है, द्रव्य है अथवा गुण है ? इस प्रश्न के समाधान में शास्त्रकार महर्षि का कथन है कि 'आत्मा ही सामायिक है।'[1] जड़ कदापि सामायिक नहीं हो सकता और द्रव्य दृष्टि से सोचने पर सामायिक द्रव्य है तथा पर्यायदृष्टि से सामायिक गुण है।

यहाँ 'द्रव्य' शब्द भी आत्मा का ही वाचक है। 'गुण' से आत्मा के ज्ञान आदि गुणों का ही ग्रहण होता है। इस प्रकार सामायिक 'जीव' है, परन्तु जड़ नहीं, यह सिद्ध होता है।

'आत्मा ही सामायिक है' यह बात आत्मा से साथ सामायिक का अभेद सम्बन्ध बताती है और इसके द्वारा सामायिक को भी आत्मा की तरह अनादि नित्यता-अनश्वरता सिद्ध होती है।

सामायिक आत्मा का ही गुण है। आत्मा में निहित ज्ञान आदि गुणों का क्रमिक विकास ही सामायिक का प्रकटीकरण है।

---

१ आया खलु सामाइयं। —विशेषा. भाष्य

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

सामायिक गुण है। गुण कदापि गुणी से भिन्न नहीं रह सकता। अतः सामायिक आत्मा में निहित गुण ही है।

उपर्युक्त दोनों दृष्टियों से सामायिक आत्म-स्वरूप एवं गुण-स्वरूप अपेक्षा से भिन्न होते हुए भी वस्तुतः तो एक ही है और वह आत्मा ही है। यदि आत्मा ही सामायिक हो तो क्या विश्व की प्रत्येक आत्मा सामायिक कही जायेगी ?

नहीं कही जायेगी; जो सावद्य पाप-क्रियाओं का त्याग करके और निरवद्य-धर्म व्यापार में सदा उपयोगी हो ऐसी आत्मा को ही सामायिक कहा जाता है। इनके अतिरिक्त अन्य आत्माओं को सामायिक नहीं कहा जा सकता।

संसारी अवस्था में रहा हुआ व्यक्ति ज्ञानावरणीय आदि कर्मों से आवृत होता है, तथा अज्ञान एवं राग-द्वेष आदि की पराधीनता के कारण विभाव दशा में मग्न रहता है। इस कारण इसे अज्ञानी, रागी अथवा द्वेषी कहते हैं, परन्तु जो व्यक्ति सावद्य योग के परिहार एवं अहिंसा आदि धर्म के सेवन से विभावपूर्वक रमण करता है, तब उसमें क्रमशः ज्ञान, दर्शन और चारित्र आदि गुण प्रकट होते हैं। अतः ऐसे व्यक्ति को 'सामायिक' कहा जाता है।

(३) सामायिक के प्रकार

आत्मा ही सामायिक है, यह बात निश्चय नय की अपेक्षा से है, परन्तु व्यवहार नय की अपेक्षा से तो अवस्था भेद के अनुसार सामायिक के अनेक प्रकार हो सकते हैं। मुख्य प्रकार निम्नलिखित हैं—

(१) **श्रुत सामायिक**—गीतार्थ सद्गुरुओं से विनय एवं सम्मानपूर्वक शास्त्रों का अध्ययन करना; शास्त्राध्ययन भी सूत्र से, अर्थ से और दोनों से—इस प्रकार तीन तरह से हो सकता है। संक्षेप में ये तीन भेद और विस्तार से चौदह अथवा बीस भेद भी श्रुत सामायिक के होते हैं।

(२) **सम्यक्त्व सामायिक**—जिन-भाषित तत्त्वों के प्रति दृढ़ श्रद्धा अथवा सुदेव, सुगुरु और सुधर्म के प्रति अचल श्रद्धा ही सम्यक्त्व सामायिक है।

सम्यक्त्व का उद्भव दो प्रकार से—

(१) निसर्ग से—किसी व्यक्ति को गुरु आदि के उपदेश के बिना स्वाभाविक तौर से होता है।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

(२) अधिगम से—अनेक व्यक्तियों को सद्गुरु-आदि से धर्म-श्रवण करने से होता है।

सम्यक्त्व के भेद

(१) औपशमिक, (२) क्षायोपशमिक, (३) क्षायिक, (४) साम्वादन और (५) वेदक—यह पाँचों प्रकार का सम्यक्त्व निसर्ग और अधिगम दोनों प्रकार से होता है। अतः सम्यक्त्व सामायिक के दस भेद किये जा सकते हैं; तथा कारक, रोचक एवं दीपक इन तीन प्रकार के सम्यक्त्व का भी शास्त्रों में निरूपण हो चुका है। सम्यक्त्व की पहचान शम, संवेग, निर्वेद, अनुकम्पा और आस्तिकता इन पाँच लक्षणों से होती है।

(३) **चारित्र सामायिक**—विरतिस्वरूप सामायिक के मुख्य दो भेद होते हैं—

(१) देशविरति चारित्र—सावद्य-पाप व्यापारों का अंशतः त्याग। यह चारित्र अणुव्रत, गुणव्रत एवं शिक्षाव्रत (बारह व्रत) आदि की अपेक्षा से अनेक प्रकार का है।

(२) सर्वविरति चारित्र—समस्त सावद्य (पाप) व्यापारों का सर्वथा त्याग; इसके निम्नलिखित तीन एवं पाँच भेद होते हैं—

तीन भेद—(१) क्षायिक चारित्र, (२) क्षायोपशमिक चारित्र, (३) औपशमिक चारित्र।

पाँच भेद—(१) सामायिक, (२) छेदोपस्थापनीय, (३) परिहार-विशुद्धि, (४) सूक्ष्म संपराय, (५) यथाख्यात।

इन भेद-उपभेदों का विचार स्थूल दृष्टि से किया गया है। सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर चारित्र के असंख्य भेद हो सकते हैं, क्योंकि संयम-श्रेणी में अध्यवसाय-स्थान असंख्य लोकाकाश जितने होते हैं।

चारित्र आत्मा का विशुद्ध परिणाम स्वरूप है। अतः अध्यवसायों में होने वाली विशुद्धि के भी तारतम्यता के अनुसार चारित्र में भी इतने ही प्रकार हो सकते हैं।

(४) सामायिक के अधिकारी कौन ?

सामायिक के समान महान् मोक्ष-साधना उसके योग्य अधिकारी के बिना सफल कैसे हो सकती है ? सामायिक के वास्तविक अधिकारी कैसे होने चाहिये—यह यहाँ बताया जायेगा।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

जिस व्यक्ति की आत्मा संयम, नियम और तप की आराधना में ही सदा संलग्न हो; चलते-फिरते अथवा स्थिर (त्रस अथवा स्थावर) समस्त प्राणियों के प्रति सद्भाव वाली अर्थात् समस्त जीवों को आत्मवत् समान दृष्टि से देखने वाली हो, वही व्यक्ति इस 'जिन प्रणोत' सामायिक धम का सच्चा अधिकारी है ।[1]

सावद्य—दुष्ट मन, वचन, काया रूपी योग की रक्षा के लिये सामायिक अभेद्य कवच है । इसके द्वारा राग-द्वेष की दुष्ट वृत्तियों पर नियन्त्रण रहता है और चित्त की स्थिरता एवं समता में वृद्धि होती जाती है ।

सर्वज्ञ-उपदिष्ट यह परम पवित्र एवं परिपूर्ण सामायिक-धर्म गृहस्थ-धर्म की अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ एवं महान् फलदायी है ।

आत्म-कल्याण-कामी बुद्धिमान व्यक्तियों को इस लोक और परलोक में आत्मा के परमोच्च विकास-साधक इस सामायिक धर्म को अवश्य स्वीकार करना चाहिये ।

मन, वचन और काया की स्थिरता अथवा शुद्धता पूर्वक होती तप, नियम और संयम की आराधना से आत्मा में आता कर्म-बन्ध का प्रवाह रुक जाता है, तथा पूर्व-कृत दुष्ट कर्मों का क्षय होता है और क्रमशः परम पद प्राप्त होता है ।

सम्पूर्ण सामायिक स्वीकार करने में असमर्थ श्रावक भी दो घड़ी की सामायिक के द्वारा अशुभ योगों से निवृत्त होकर अपूर्व कर्म-क्षय कर सकते हैं । सामायिक में स्थिर श्रावक भी उतने समय के लिये साधु-तुल्य माना जाता है ।

सामायिक करना अर्थात् मध्यस्थ भाव में रहना, राग-द्वेष के मध्य रहना—अर्थात् दोनों में से किसी का भी आत्मा के साथ स्पर्श नहीं होने देना, परभाव से हट कर स्वभाव में स्थिर होना । सामायिक आत्म-स्वभाव में तन्मयता लाने की एक अद्भुत, दिव्य कला है । संयम, नियम एवं तप के सतत अभ्यास से सामायिक को आत्मसात् किया जा सकता है । ※

---

१ जस्स सामाणिओ अप्पा संजमे नियमे तवे ।
तस्स सामाइयं होइ इइ केवलिभासियं ।।
जो समो सव्वभूएसु तसेसु थावरेसु य ।
तस्स सामाइयं होइ इई केवलिभासियं ।।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

३. सामायिक प्राप्ति का पूर्वाभ्यास

सामायिक धर्म की प्राप्ति के लिये उत्सुक व्यक्ति को सर्वप्रथम अपनी आत्मा को संयम में, अहिंसा आदि पाँच महाव्रतों में अथवा सत्रह प्रकार के (इन्द्रिय-कषाय आदि-जय रूप) संयम में स्थिर करनी चाहिये।

नियम स्वरूप अष्ट प्रवचन माता की गोद में जीवन समर्पित कर के क्षमा, नम्रता, सरलता आदि गुणों का विकास करना चाहिये।

अनशन आदि बाह्य तप से काया को अच्छी तरह कस लेना चाहिये ताकि चाहे जैसे उपसर्ग आयें तो भी हमारी देह तनिक भी पीछे नहीं हटे और हर्षपूर्वक उन उपसर्गों को सहन कर सके। हमें आभ्यन्तर तप—प्रायश्चित्त, गुरु-भक्ति और स्वाध्याय के द्वारा अपने चित्त की वृत्तियों को निर्मल करना चाहिये। निर्मल चित्त के द्वारा परमात्मा के साथ एकात्मता में (आत्मा) और परमात्मा एक हैं ऐसी तादात्म्यता करने के लिये उनके ध्यान में तन्मय होकर कायोत्सर्ग करके कायिक चंचलता पर भी नियन्त्रण रखना चाहिये।

विश्व के समस्त जीवों के प्रति समभाव रखकर उन्हें आत्मवत् मानना चाहिये। क्षुद्रतम जन्तु भी सुख प्राप्त करना और दुःख से मुक्त होना चाहता है और उसके लिये यथाशक्ति सतत पुरुषार्थ भी करता रहता है। ऐसे प्राणियों को हमारे द्वारा होने वाली वेदना कितनी दुःखदायी होती होगी, उसका अनुमान हम अपने उपर आने वाली भाँति-भाँति की विपत्तियों से सरलता पूर्वक लगा सकते हैं।

अतः अपने मन, वचन और काया से किसी भी जीव को किसी भी प्रकार की पीड़ा न हो उसका हमें अत्यन्त ध्यान रखना चाहिये।

मन से भी किसी व्यक्ति का हम अहित न सोचलें इसकी भी हमें पूर्ण सावधानी रखना आवश्यक है। जब तक अपनी ओर से दूसरों को पीड़ित करने की प्रवृत्ति चलती रहेगी, तब तक अपनी पीड़ा कदापि नहीं मिटेगी।

दूसरों को अभय किये बिना हम स्वयं निर्भय नहीं हो सकते।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

समस्त जीवों को आत्म-तुल्य दृष्टि से देखे बिना आत्म-दर्शन अथवा सम्यग्दर्शन की प्राप्ति नहीं हो सकती।

हमें राग-द्वेष की दुष्ट-वृत्तियों को वश में करके माध्यस्थ भाव रखना चाहिये। कोई हम पर शीतल चन्दन का विलेपन करे अथवा कोई कुल्हाड़ी से हमारी देह के टुकड़े कर दे; कोई हमारी प्रशंसा (स्तुति) करे अथवा कोई हमारी निन्दा करे—हमें गालियां दे फिर भी हमारी दृष्टि दोनों के प्रति समान रहे। राग-द्वेष की भावना उत्पन्न न होने देना माध्यस्थ भाव है।

हमें समस्त जड़ (पौद्गलिक) पदार्थों से वैराग्य धारण करना चाहिये। इन्द्रियों के समक्ष जड़ पदार्थों का आगमन होते ही मन उसमें इष्ट-अनिष्ट की कल्पना करने लग जाता है और तदनुरूप राग द्वेष की वृत्तियों की हमारे मन में खलबली शुरु हो जाती है। इष्टसंयोग से हर्ष और अनिष्टसंयोग से शोक का हमें अनुभव होने लगता है।

परन्तु यदि हम वैराग्य-सिक्त हों तो बाह्य सुख-दुःख के मधुर-कटु किसी भी प्रकार के प्रसंगों में माध्यस्थ भाव स्थायी रखा जा सकता है, राग-द्वेष की वृत्तियों पर विजय प्राप्त की जा सकती है।

ज्ञानी एवं विरक्त व्यक्ति को बाह्य सुख-दुःख, शान्ति-अशान्ति कर्म का विकार मात्र प्रतीत होती है।

उपर्युक्त उपायों के द्वारा सामायिक (समता भाव) का सतत अभ्यास जब पराकाष्ठा पर पहुँच जाता है, तब उस प्रकार का विशिष्ट व्यक्ति मोक्षाभिलाषा से भी निवृत्त हो जाता है।

सच्चिदानन्द की मस्ती में मस्त बने मुनि को मोक्ष-सुख के पकवान के रूप में समता-सुख का यहीं रसास्वादन करने को मिल जाता है, जिससे उसमें मोक्ष-सुख की तमन्ना भी नहीं रहती और यह समतारूपी रमणी इतनी स्वामि-भक्त एवं शक्तिशाली है कि यह अपने प्रियतम को मुक्तिपुरी के द्वार पर पहुँचा कर ही दम लेती है।

सामायिक शब्द का जो नैश्चयिक अर्थ 'शुद्ध आत्मा' और 'शुद्ध आत्म-स्वभाव में होने वाली रमणता' है, वह इस प्रकार की विशिष्ट भूमिका वाले मुनि भगवानों को ध्यान में रखकर ही बताया गया है।

सामायिक अर्थात आत्म-स्वभाव में रमणता करने वाला निश्चय (भाव) चारित्र; जिस चारित्र को स्वयं तीर्थंकर भगवान भी अपने जीवन में ज्वलन्त रखते हैं और मुख्यतः सर्वप्रथम इसका ही उपदेश देते हैं।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

इस सामायिक धर्म की ससम्मान आराधना तीर्थंकर भगवान की आज्ञा की ही आराधना है; उनकी आज्ञा का ही बहुमान है और तत्त्वतः तीर्थंकर भगवान का ही सम्मान है। इस सम्मान भावना से पर्याप्त कर्म-क्षय करने वाला व्यक्ति क्रमशः गुणश्रेणी पर आरोहण करके सामायिक की शुद्धता को ज्वलन्त करता जाता है। दसवें गुणस्थानक पर पहुँचकर यह सामायिक 'सूक्ष्म-संपराय के रूप में' परिवर्तित हो जाती है और ११, १२, १३, १४ वें गुणस्थानक पर यही सामायिक 'यथाख्यातपन' के परिणाम प्राप्त कर लेती है।

इस प्रकार सामायिक की शुद्धता में वृद्धि होने पर शुक्लध्यान प्रकट होता है, शुक्लध्यान से केवलज्ञान की प्राप्ति होती है और अन्त में आत्म-स्वभाव की पूर्णता के रूप में मोक्ष प्राप्त होता है।

परम पुरुषों ने इस कारण ही चन्दन के समान सर्व मध्यस्थ भाव रूपी चित्त को अर्थात् सामायिक को मोक्ष का प्रधान अंग माना है।

सर्व-विरति सामायिक मोक्ष का प्रधान साधन होते हुए भी उसकी प्राप्ति अत्यन्त दुर्लभ है। कोई विरला पुण्यशाली व्यक्ति ही सावद्य योग की संगति का सर्वथा परित्याग करके उज्ज्वल हो सकता है; परन्तु उक्त पुण्य-सामर्थ्य के अभाव में भी सम्यक्त्व सामायिक एवं देश-विरति सामायिक की विधिपूर्वक सादर आराधना की जाये तो क्रमशः प्रबल चारित्र-मोहनीय कर्म क्षय होने पर इस जीवन में अथवा आगामी जन्म में सम्पूर्ण सामायिक प्राप्त करने का प्रचण्ड बल प्रकट हो सकता है।

किसी भी इष्ट वस्तु की प्राप्ति तदनुरूप प्रवृत्ति करने से होती है। सर्व-विरति आदि चारों सामायिक की प्राप्ति भी उनके अनुकूल प्रवृत्ति करने से अवश्य हो सकती है।

अब यहां क्रमशः चारों सामायिक की प्राप्ति के सरल उपाय बताये जाते हैं। यदि उन्हें जीवन में आजमाया जाये, उनको आचरण में लाया जाये तो उत्तरोत्तर आत्मिक विकास होने पर क्रमशः सम्पूर्ण सामायिक-भाव प्राप्त किया जा सकता है।

सर्व-विरति सामायिक प्राप्त करने के उपाय—

सर्व-विरति सामायिक के अभिलाषी व्यक्ति को अपने जीवन की समस्त प्रवृत्तियों को मोक्ष-मार्ग के अनुकूल बनानी चाहिये, अर्थात् मार्गानुसारिता तथा सम्यग्ज्ञान, दर्शन और चारित्र आदि गुणों का विकास होता रहे ऐसी प्रवृत्ति करनी चाहिये। मोक्ष-साधना में विघ्न-भूत कोई भी प्रवृत्ति नहीं करनी चाहिये।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

जिनेश्वर भगवान द्वारा प्ररूपित तत्त्वों के प्रति अखण्ड श्रद्धा प्रकट करना।

सद्गुरु की धर्म-देशना को श्रवण करके तदनुसार जीवन यापन करना।

गुणवान मनुष्यों के प्रति हृदय में सद्भाव एवं सम्मान रखना।

अपनी शक्ति के अनुसार धर्म-कार्यों में सदा प्रयत्नशील रहना।

देह आदि जड़ पदार्थों की आसक्ति का परित्याग करके आत्मोत्थान की प्रतिक्षण चिन्ता रखना।

देश-विरति सामायिक प्राप्त करने के उपाय —

स्वभूमिका के अनुरूप शास्त्रोक्त अनुष्ठानों का विधि पूर्वक पालन करना।

सदा नमस्कार महामन्त्र का स्मरण, मनन एवं चिन्तन करना।

तीनों समय जिनेश्वर भगवान की स्व द्रव्यों से विधिपूर्वक पूजा करना।

गुरु-वन्दन, सेवा, भक्ति और सद्गुरु से धर्म का श्रवण करना।

शुद्ध आशय से यथाशक्ति दान देना।

श्रावक-धर्म में कोई रुकावट आये, उस प्रकार से महा आरम्भ-समारम्भ युक्त कर्मादान आदि का त्याग करके न्याय-नीतिपूर्वक जीवन निर्वाह करना।

दोनों समय प्रतिक्रमण करना।

जीव आदि तत्त्वों का अध्ययन एवं मनन करना।

अनित्य आदि बारह भावनाओं को नित्य हृदय में रखना।

'श्राद्ध-विधि' आदि ग्रन्थों में निर्दिष्ट श्रावकों के योग्य आचारों का पालन करने से देश-विरति सामायिक की शुद्धता में वृद्धि होती जाती है और उसके प्रभाव से चारित्र-मोहनीय-कर्म का क्षयोपशम होने पर सर्व-विरति सामायिक की प्राप्ति होती है।

श्रुत एवं सम्यक्त्व सामायिक प्राप्ति के उपाय—

तत्त्व श्रवण करने की उत्कंठा जागृत करना।

धर्म के प्रति प्रेम उत्पन्न करना।

देवाधिदेव अरिहन्त परमात्मा तथा निर्ग्रन्थ गुरु भगवानों की सेवा-भक्ति करना।

अपराधी को भी क्षमा करना, उसका भी अहित नहीं सोचना।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

विषय-वासना के प्रति उदासीनता रखना, वैराग्य जगाना।

आत्मा के पूर्णानन्दमय स्वरूप का अनुभव करने के लिये अत्यन्त उत्कण्ठा रखना।

दुःखी जीवों के कष्ट निवारण करने के प्रयास करना।

जिन-वचनों के प्रति दृढ़ श्रद्धा रखना।

ये समस्त गुण आने पर साधक में सम्यक्त्व सामायिक प्रकट होती है और यदि ये पूर्व से ही प्राप्त हों तो वह अधिक निर्मल बनती है।

श्रुत सामायिक सम्यक्त्व सामायिक की सहचारिणी है। सम्यक्त्व सामायिक की प्राप्ति होने पर श्रुत सामायिक स्वयमेव प्राप्त हो जाती है। ये दोनों सामायिक परस्पर सहचारिणी हैं, सहायक हैं।

सम्यक्त्व सामायिक को प्राप्ति कोई सरल बात नहीं है। 'मैं देह नहीं, आत्मा हूँ" इस भेदज्ञान के समक्ष दीवार की तरह अडिग खड़ा तीव्र दर्शन-मोहनीय कर्म दूर न हो, तब तक जीव सम्यक्त्व की पूर्व भूमिका का स्पर्श तक नहीं कर सकता।

सम्यक्त्व की पूर्व भूमिका है—अपुनर्बन्धक अवस्था। जीव इस अवस्था तक तब ही पहुंच सकता है, जब वह पुनः कदापि मोहनीय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति का बन्ध नहीं करने की स्थिति तक पहुँच गया होता है।

अपुनर्बन्धक अवस्था को पहुंचे हुए जीवों की परिणति-प्रवृत्ति कैसी होती है वह निम्नलिखित लक्षणों से पहचानी जा सकती है--

तीव्र क्रूरता से हिंसा आदि पाप कार्य न करे।

तथाकथित सांसारिक सुखों के प्रति प्रगाढ़ आसक्ति न करे।

धर्म आदि समस्त कार्यों में उचित मर्यादा का उल्लंघन न करे।

'योगबिन्दु' ग्रन्थ में अपुनर्बन्धक के अन्य लक्षण भी बताये गये हैं जैसे—

तुच्छ, संकुचित वृत्ति नहीं रखता हो।

भिक्षा माँगने वाला (याञ्चाशील) न हो।

दीनता नहीं रखता हो।

धूर्तता नहीं करता हो।

निरर्थक प्रवृत्तियाँ न करता हो।

कालज्ञ हो, समय पहचान कर व्यवहार करने वाला हो, आदि। ※

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

४. सामायिक की विशालता

इस विराट विश्व में सामायिक कितनी व्यापक है; जिसका पूर्ण ज्ञान इन क्षेत्र, दिशा, काल आदि ३६ द्वारों से की जाने वाली सामायिक के चिन्तन से हो सकता है।

(१) **क्षेत्र द्वार**—क्षेत्र = लोक; सामान्यतया सामायिक तीनों लोकों (ऊर्ध्व, अधः और मध्य) में होती है।[1] 'प्रतिपद्यमान' एवं 'पूर्वप्रतिपन्न' की अपेक्षा से इसमें विशेषता होती है, जो इस प्रकार है :—

(१) प्रतिपद्यमान की अपेक्षा से सम्यक्त्व एवं श्रुत सामायिक की प्राप्ति तीनों लोकों में हो सकती है, देशविरति सामायिक की प्राप्ति तिर्छा लोक में हो सकती है और सर्वविरति सामायिक की प्राप्ति मनुष्य लोक में हो सकती है।

(२) पूर्वप्रतिपन्न की अपेक्षा से प्रथम तीन सामायिक (सम्यक्त्व, श्रुत और देशविरति) प्राप्त किये हुए जीव तीनों लोकों में होते हैं और सर्वविरति सामायिक प्राप्त जोव[2] अधो एवं तिर्छ लोक में नियमा होते तथा ऊर्ध्व लोक में क्वचित् (लब्धि-धारी मुनिगण मेरू पर्वत पर जा रहे हों उस अपेक्षा से) होते हैं।

(२) **दिशा द्वार**—पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण—इन चारों दिशाओं में विवक्षित समय के आश्रित चारों सामायिकों को स्वीकार करने वाले जीव होते हैं। पूर्वप्रतिपन्न तो प्रत्येक दिशा में अवश्य होते ही हैं।

(३) **काल द्वार**—सम्यक्त्व एवं श्रुत सामायिक दोनों तरह से भरत ऐरवत क्षेत्र के आश्रित होकर छःओं आरों में होती हैं। देशविरति तथा

---

१ प्रतिपद्यमान—सामायिक की प्राप्ति के समय जीव "प्रतिपद्यमान" कहलाते हैं।
पूर्वप्रतिपन्न—सामायिक की प्राप्ति हो जाने पर वे ही जीव "पूर्वप्रतिपन्न" कहलाते हैं।

२ महाविदेह में आई हुई "कुबड़ीविजय" जो अधोलोक मानी जाती है।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

सर्वविरति सामायिक तीसरे, चौथे और पाँचवे आरे में ही हो सकती हैं। महाविदेह क्षेत्र में तो चारों सामायिक सदा होती हैं। देवताओं आदि के संहरण की अपेक्षा से चारों सामायिक समस्त कालों में हो सकती हैं, तथा 'पूर्वप्रतिपन्न' भी महाविदेह क्षेत्र की अपेक्षा से सर्वदा होती हैं।

जहाँ काल आदि की व्यवस्था नहीं है ऐसे ढाई द्वीपों के अतिरिक्त द्वीप समुद्रों में भी आद्य तीन सामायिक मछलियाँ आदि जीव प्राप्त कर सकते हैं।

(४) **गतिद्वार** – चारों गतियाँ (देव, मनुष्य, तिर्यंच एवं नरक) में सम्यक्त्व एवं श्रुत इन दो सामायिकों की प्राप्ति हो सकती है और 'पूर्व प्रतिपन्न' तो अवश्य होती है। देशविरति सामायिक मनुष्य तथा तिर्यंच गति में ही प्राप्त होती हैं, 'पूर्वप्रतिपन्न' सदा होती ही है। सर्वविरति सामायिक केवल मनुष्य गति में प्राप्त होती है, 'पूर्वप्रतिपन्न' तो सदा होती ही है।

उपर्युक्त चारों द्वारों में किये गये विचार से समझा जा सकता है कि समस्त क्षेत्रों तथा समस्त कालों में सामायिक अवश्य विद्यमान होती है, अर्थात् तीनों लोकों और तीनों कालों में सामायिक वाले जीव होते हैं, तथा चारों गतियों के जीव 'सामायिक' प्राप्त कर सकते हैं और अपने जीवन में उसका अभ्यास करते-करते अनेक जीव सम्यक्त्व एवं श्रुत सामायिक को जन्मान्तर में साथ ले जाते हैं। मनुष्य-भव-प्राप्त वे जीव; गुरु के उपदेश आदि के द्वारा पूर्वाभ्यस्त संस्कार जागृत होने पर देशविरति एवं सर्व-विरति चारित्र प्राप्त करते हैं और उसके सुविशुद्ध परिपालन से पूर्ण सामायिक को प्राप्त करके वे सिद्धि गति को प्राप्त करते है, सदा के लिये सामायिक भाव में स्थिर रहते हैं अर्थात् वे स्वयं सामायिक स्वरूप हो जाते हैं।

(५-६) भव्यद्वार एवं संज्ञीद्वार

(१) प्रतिपद्यमान – भव्य आत्मा चार में से कोई भी सामायिक प्राप्त कर सकते हैं। वे कभी सम्यक्त्व सामायिक, कभी श्रुत सामायिक, कभी देश-विरति सामायिक तो कभी सर्वविरति सामायिक भी प्राप्त कर सकते हैं; संज्ञी जीव भी इसी प्रकार से चारों सामायिक प्राप्त कर सकते हैं।

(२) पूर्वप्रतिपन्न—अनेक भव्य जीव तथा संज्ञी जीव चारों सामायिक प्राप्त किये हुए होते ही हैं। अभव्य, असंज्ञी और सिद्ध जीव किसी भी सामायिक के प्रतिपद्यमान अथवा पूर्वप्रतिपन्न नहीं होते। सास्वादन के

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

आश्रित होकर असंज्ञी जीव सम्यक्त्व और श्रुत सामायिक के पूर्वप्रतिपन्न हो सकते हैं तथा भवस्थ केवली (नोसंज्ञी नो असंज्ञी) सम्यक्त्व और चारित्र के पूर्वप्रतिपन्न हो सकते हैं। सिद्धों में सम्यक्त्व सामायिक पूर्वप्रतिपन्न हो सकती है, परन्तु उसकी विवक्षा यहाँ अपेक्षित नहीं है। सामायिक की प्राप्ति भव्य आत्मा को ही हो सकती है, वह भी संज्ञी पंचेन्द्रिय अवस्था में ही हो सकती है। अभव्य जीव तो सामायिक भाव का कदापि स्पर्श भी नहीं कर सकते।

यद्यपि द्रव्य से श्रुत सामायिक उन्हें भी प्राप्त हो सकती है, परन्तु सम्यक्त्व का सहचारी भाव-श्रुत तो उनके लिये सम्भव ही नहीं है।

इससे ज्ञात होता है कि सम्यक्त्व की प्राप्ति से पूर्व नौ पूर्व के अभ्यासी भव्य जीव का श्रुत भी द्रव्य श्रुत ही है।

(७) **उश्वास-निश्वास द्वार**—श्वासोश्वास पर्याप्ति से पूर्ण बना जीव चारों सामायिक प्राप्त कर सकता है तथा चारों सामायिकों के पूर्व प्रतिपन्न भी होते हैं, परन्तु आनपान पर्याप्ति-अपर्याप्ति जीव चार में से एक भी सामायिक नहीं प्राप्त कर सकते; देव आदि जन्म के समय सम्यक्त्व और श्रुत सामायिक के पूर्वप्रतिपन्न हो सकते हैं। सिद्धों में पूर्ववत् चारों सामायिक दोनों प्रकार से नहीं होती, अथवा अयोगी केवली सम्यक्त्व एवं चारित्र के पूर्वप्रतिपन्न होते हैं।

'प्राणायाम' श्वासोश्वास निरोध की एक प्रक्रिया है। योग के आठ अंगों में उसका चौथा स्थान है। प्रस्तुत सामायिक में भाव प्राणायाम (बहिरात्म दशा का त्याग आदि) की प्रधानता है। इस कारण ही बाह्य प्राण के निरोध के बिना भी चारों सामायिकों की प्राप्ति का विधान किया गया है। बाह्य श्वासोश्वास-निरोध के बिना भी सम्यक्त्व एवं चारित्र की उपस्थिति हो सकती है, क्योंकि वे दोनों जीव के 'भाव प्राण' हैं। चारों सामायिक 'भाव-प्राणायाम' स्वरूप हैं।

(८) **दृष्टि द्वार**—दृष्टि के दो प्रकार हैं—(१) निश्चय दृष्टि और (२) व्यवहार दृष्टि।

(१) निश्चय दृष्टि क्रिया-काल एवं निष्ठा-काल को एक मानती है। इसके मत से सामायिक वाला जीव सामायिक प्राप्त करता है।

(२) व्यवहार दृष्टि की मान्यता है कि क्रिया के प्रारम्भ के पश्चात कार्य की समाप्ति दीर्घ काल में होती है। अतः जो जीव पहले सामायिक-

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

रहित होते हैं, वे जीव सामायिक प्राप्त करते हैं, जिस प्रकार अज्ञानी लोग ज्ञान प्राप्त करते हैं।

जैन दर्शन स्याद्वादमय है, जिसमें समस्त नयों का सापेक्षता से विचार किया जाता है। यहाँ सातों नयों का दो नयों में समावेश करके उनके अभिप्राय के अनुसार सामायिक को घटित किया गया है। विशेष चर्चा 'विशेषावश्यक' से ज्ञात कर लें।

(९-१०) **आहारक द्वार और पर्याप्तक द्वार**—आहारक अर्थात् ओज, लोम और कवल आहार करने वाले। पर्याप्तक अर्थात् आहार आदि छःओं स्व-योग्य पर्याप्ति पूर्ण करने वाले। ये दोनों प्रकार के जीव चार में से कोई भी सामायिक प्राप्त कर सकते हैं तथा 'पूर्वप्रतिपन्न' नियमा होती है। अनाहारक एवं अपर्याप्त जीव अपान्तराल गति में सम्यक्त्व एवं श्रुत के पूर्व प्रतिपन्न हो सकते हैं, परन्तु नवीन सामायिक नहीं प्राप्त कर सकते।

अणाहारी शैलेशी अवस्था में और केवली समुद्घात के समय सम्यक्त्व और चारित्र के पूर्व प्रतिपन्न हो सकते हैं।

(११) **सुप्त-जागृत द्वार**—दोनों के दो-दो भेद किये जा सकते हैं—द्रव्य एवं भाव।

(१) द्रव्य सुप्त—नींद लेता हो वह और (२) भाव सुप्त मिथ्यादृष्टि; ये दोनों एक भी नवीन सामायिक प्राप्त नहीं कर सकते क्योंकि इस अवस्था में उसके समान विशुद्धि नहीं होती।

(२) द्रव्य जागृत—निद्रा रहित और (२) भाव जागृत—सम्यग्दृष्टि; ये दोनों नवीन सामायिक प्राप्त कर सकते हैं तथा चारों सामायिकों के वे पूर्वप्रतिपन्न तो होते हैं।

'निन्दरड़ी वैरण हुई रही'—यह उक्ति अत्यन्त रहस्यपूर्ण है। निद्रावस्था में भी वास्तविक गुण की प्राप्ति नहीं हो सकती। प्राप्त ज्ञान आदि गुण भी उस समय के लिये तो विसरा जाते हैं। नींद 'घाती' प्रकृति है। यह आत्मा के मूल गुणों का घात करती है। यह तो हुई द्रव्य निद्रा की बात। भाव निद्रा तो इससे बहुत अधिक भयंकर है; मिथ्यात्व अवस्था में जीव असार को सार, असत्य को सत्य और अनात्मा को आत्मा मानने के भयंकर भ्रम का शिकार होता है, जिसके कारण आत्मा दुर्गति की गहरी खाई में जा गिरती है, असह्य यातनाओं एवं वेदनाओं से पीड़ित होती है और अपना भव-प्रवास अत्यन्त ही दीर्घ बना देती है।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

(१२) **जन्मद्वार**[1]—जीवों का जन्म चार प्रकार से होता है—(१) जरायुज, (२) अण्डज, (३) पोतज एवं (४) उपपात।

(१) जरायुज—मनुष्य को चारों सामायिक दोनों प्रकार से होती है, नवीन सामायिक प्राप्त कर सकते हैं और पूर्वप्रतिपन्न होते हैं।

(२-३) अण्डज एवं पोतज—आद्य दो सामायिक अथवा देशविरति सामायिक प्राप्त कर सकते हैं और पूर्वप्रतिपन्न भी होते हैं।

(४) उपपात-देव-नारक—आद्य दो सामायिक के प्रतिपत्ता और पूर्वप्रतिपन्न होते हैं। यहाँ सम्मूर्च्छिम जीवों की विवक्षा नहीं की, क्योंकि वे एक भी सामायिक प्राप्त नहीं कर सकते।

(१३) स्थिति-द्वार[2]—आयुष्य के अतिरिक्त सातों कर्म की उत्कृष्ट

---

१ (१) जरायुज—जो जरायु (मांस, रक्त से पूर्ण एक प्रकार का जाल सा आवरण होता है) से उत्पन्न होता है जैसे—मनुष्य, गाय आदि।

(२) अंडज—जो अण्डे से उत्पन्न हो वह अंडज जैसे—कबूतर, चिड़िया, सांप आदि।

(३) पोतज—जो किसी भी आवरण में लिप्त हुए बिना उत्पन्न होता है जैसे—हाथी, खरगोश, चूहा आदि।

(४) औपपातिक—देवों और नारकों का उपपात जन्म होता है। उनके जन्म के लिये जो विशेष स्थान नियत होता है वह उपपात कहलाता है।

२ आठ कर्मों की उत्कृष्ट एवं जघन्य स्थिति—

कर्म	**१. ज्ञानावरणीय**	**२. दर्शनावरणीय**	**३. वेदनीय**	**४. मोहनीय**
उत्कृष्ट स्थिति	३० कोटा कोटि सागरोपम	३० कोटा कोटि सागरोपम	३० कोटा कोटि सागरोपम	७० कोटा कोटि सागरोपम
जघन्य स्थिति	अन्तर्मुहूर्त	अन्तर्मुहूर्त	१२ मुहूर्त	अन्तर्मुहूर्त

कर्म—	**आयुष्य**	**नाम**	**गोत्र**	**अंतराय**
उत्कृष्ट स्थिति	३३ सागरोपम	२० कोटाकोटि सागरोपम	२० कोटाकोटि सागरोपम	३० कोटाकोटि सागरोपम
जघन्य स्थिति	अन्तर्मुहूर्त	८ मुहूर्त	८ मुहूर्त	अन्तर्मुहूर्त

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

स्थिति में व्यवहार करते हुए जीवों में चारों सामायिक दो में से एक प्रकार से न हो, अर्थात् नवीन प्राप्त नहीं कर सकें और पूर्व प्राप्त स्थायी न हो; क्योंकि उस स्थिति में जीव के भाव अत्यन्त संकुचित होते हैं, अतः समता भाव की प्राप्ति नहीं हो सकती।

आयुष्य की उत्कृष्ट स्थिति में वर्तमान अनुत्तरवासी देव सम्यक्त्व एवं श्रुत सामायिक के पूर्वप्रतिपन्न अवश्य होते हैं और सातवीं नरक के जीव छः माह की आयु शेष रहती है तब उस प्रकार की विशुद्धि के योग से सम्यक्त्व एवं श्रुत सामायिक प्राप्त कर सकते हैं और पूर्वप्रतिपन्न होते हैं। जघन्य आयुष्य-क्षुल्लक भव वाले निगोद के जीवों को चारों सामायिक दोनों प्रकार से नहीं होती। आयुष्य के अतिरिक्त सातों कर्म की जघन्य स्थिति बाँधने वाला क्षपक श्रेणी स्थित जीव देशविरति के अतिरिक्त तीनों सामायिक का 'पूर्वप्रतिपन्न' होता है और समस्त कर्मों की मध्यम स्थिति में रहे जीव चारों सामायिक को प्राप्त कर सकते हैं और पूर्वप्रतिपन्न भी होते हैं।

(१४) **वेद द्वार**—वेद तीन हैं—पुरुष वेद, स्त्री वेद और नपुंसक वेद। इन तीनों वेदों में चारों सामायिक नवीन प्राप्त हो सकती हैं और पूर्व प्राप्त की हुई नियमा होती हैं। अवेदी (तीनों वेदों के उदय एवं अनुभव से रहित) आत्मा श्रुत, सम्यक्त्व एवं सर्वविरति की पूर्वप्रतिपन्न होती है।

(१५) **संज्ञा द्वार**—आहार, भय, मैथुन एवं परिग्रह इन चारों संज्ञा वाले जीवों को दोनों प्रकार से चारों सामायिक प्राप्त हो सकती हैं।

(१६) **कषाय द्वार**—क्रोध, मान, माया और लोभ इन चारों कषायों वाले जीव चारों सामायिक के प्रतिपत्ता और पूर्वप्रतिपन्न होते हैं। यद्यपि अनन्तानुबन्धी कषाय आदि के क्षय, क्षयोपशम अथवा उपशम से सम्यक्त्व आदि सामायिक प्राप्त होती है, फिर भी जीव जहाँ तक सम्पूर्ण कषाय रहित स्थिति को प्राप्त नहीं हुआ हो तब तक वह 'सकषायी' कहलाता है।

अकषायी 'छद्मस्थ वीतराग' कहलाते हैं; वे सम्यक्त्व, श्रुत और सर्वविरति के पूर्वप्रतिपन्न होते हैं, प्रतिपद्यमान नहीं होते।

कर्म की स्थिति का सूक्ष्म ज्ञान विशिष्ट ज्ञानी को ही हो सकता है, फिर भी यहाँ स्थूल दृष्टि से वेद, संज्ञा और कषाय (जो सबको अनुभवगम्य हैं) की मन्दता का आश्रय लेकर सामायिक प्राप्ति की बात कही गई है। अन्यथा इन तीनों की उत्कृष्ट अवस्था में तो कदापि समता भाव प्रकट नहीं

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

होता, यदि प्रकट हो गया हो तो स्थायी नहीं रह सकता। शास्त्रों में कहा गया है कि अनन्तानुबन्धी कषाय सम्यक्त्व का, अप्रत्याख्यानीय कषाय देश-विरति का, प्रत्याख्यानीय कषाय सर्वविरति का और संज्वलन कषाय यथाख्यात चारित्र का घातक है। समता सामायिक के अभिलाषी व्यक्तियों को पाँचों इन्द्रियों के विषयों पर, रसना लोलुपता पर और क्रोध आदि कषायों पर विजय प्राप्त करने के लिये निरन्तर प्रयास करने चाहिये।

(१७) **आयुष्य द्वार**—संख्याता वर्षों के आयु वाले जीव चारों सामायिक प्राप्त कर सकते हैं और पूर्वप्रतिपन्न भी होते हैं। असंख्याता वर्षों के आयु वाले जीव सम्यक्त्व एवं श्रुत सामायिक को प्राप्त कर सकते हैं तथा पूर्वप्रतिपन्न भी अवश्य होते हैं।

सामायिक आत्मा के विशुद्ध समता परिणाम स्वरूप है। उसकी प्राप्ति अथवा प्राप्त की हुई की रक्षार्थ कर्म की स्थिति अपेक्षित है, अर्थात् कर्म-प्रकृति का बल क्षीण होने पर, मन्द होने पर ही 'सामायिक' प्राप्त होती है। कर्म की प्रबलता में वृद्धि होने पर तो प्राप्त सामायिक-समता-भावना भी नष्ट हो जाती है।

कर्मसत्ता को निर्बल करने के लिये मुमुक्षु आत्माओं को चतुःशरण-गमन आदि धार्मिक अनुष्ठानों में तत्पर रहना चाहिये।

(१८) **योग-द्वार**—सामान्यतः मन, वचन और काया रूपी तीनों योगों में विवक्षित काल में चारों सामायिक प्राप्त हो सकती हैं और पूर्व-प्रतिपन्न भी होती हैं। विशेषता निम्नलिखित है—

औदारिक देह वालों को तीनों योगों में चारों सामायिक प्राप्त हो सकती हैं और पूर्वप्रतिपन्न भी होती है। वैक्रिय देह युक्त तीनों योगों में सम्यक्त्व एवं श्रुत सामायिक दोनों प्रकार से हो सकती है और देशविरति, सर्वविरति पूर्वप्रतिपन्न होती है।

आहारक देह युक्त तीनों योगों में देश-विरति के अतिरिक्त तीनों सामायिक पूर्वप्रतिपन्न होती हैं। केवल तैजस कार्मण में अन्तराल गति से सम्यक्त्व एवं श्रुत सामायिक पूर्वप्रतिपन्न होती है।

केवली समुद्घात में सम्यक्त्व एवं सर्वविरति चारित्र पूर्वप्रतिपन्न होते हैं।

केवल मनोयोग और वचनयोग किसी को होते ही नहीं हैं।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

काया वचन योग में दो इन्द्रिय आदि जीव उत्पत्ति के समय सास्वादन की अपेक्षा से श्रुत एवं सम्यक्त्व दो सामायिकों के पूर्वप्रतिपन्न हो सकते हैं।

(१९) **देह द्वार**—औदारिक देह में चारों सामायिक दोनों प्रकार से होती हैं। वैक्रिय देह में सम्यक्त्व एवं श्रुत सामायिक प्राप्ति की रटन होती है, क्योंकि देव कभी-कभी नरक में जाते हैं और कभी-कभी नहीं जाते; और वैक्रिय देह बनाते समय मनुष्य एवं तिर्यंच भी देशविरति एवं सर्व-विरति प्राप्त नहीं करते। पूर्वप्रतिपन्न तो चारों सामायिकों के होते हैं। आहारक देह में देशविरति के अतिरिक्त तीनों सामायिक पूर्वप्रतिपन्न होती हैं। तैजस-कार्मण देह में अन्तराल गति से श्रुत एवं सम्यक्त्व पूर्व-प्रतिपन्न हो सकती हैं।

(२०-२१) **ज्ञान द्वार एवं उपयोग द्वार**—उपयोग के मुख्य दो प्रकार हैं—(१) साकार और (२) निराकार।

(१) साकार उपयोग ज्ञानस्वरूप है।

(२) निराकार उपयोग दर्शनस्वरूप है।

इन दोनों प्रकारों में सामान्यतया चारों सामायिकों की प्राप्ति (प्रतिपत्ति) होती है और पूर्वप्रतिपन्न होती हैं।

पांच ज्ञान—मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यव और केवल ज्ञान।

चार दर्शन—चक्षु, अचक्षु, अवधि और केवल दर्शन।

मतिज्ञानी एवं श्रुतज्ञानी सम्यक्त्व एवं सामायिक एक साथ प्राप्त कर सकते हैं, परन्तु देश-विरति एवं सर्व-विरति सामायिक विकल्प से कोई जीव प्राप्त करे और कोई जीव प्राप्त न भी करे। पूर्वप्रतिपन्न नियमा होती है।

चक्षुदर्शन एवं अचक्षुदर्शन में मति एवं श्रुत के अनुसार समझ लें।

अवधिज्ञान एवं अवधिदर्शन में सम्यक्त्व एवं श्रुत सामायिक के पूर्वप्रतिपन्न ही होते हैं परन्तु नवीन प्राप्ति नहीं करते तथा वे देशविरति सामायिक भी प्राप्त नहीं करते; क्योंकि देव, नारक, संयमी एवं श्रावक इन चार में से प्रथम तीन को देश-विरति सामायिक प्राप्त होने की सम्भावना नहीं है, श्रावक भी पूर्व में देश-विरति गुण युक्त होता है, तत्पश्चात् वह अवधि प्राप्त करता है और सर्व-विरति सामायिक मनुष्य को आश्रित होकर दोनों प्रकार से होती है।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

मनःपर्यवज्ञानी देश-विरति के अतिरिक्त तीनों सामायिकों के प्रतिपन्न होते हैं परन्तु प्रतिपद्यमान नहीं होते अथवा तीर्थंकर भगवान मनःपर्यवज्ञान एवं सर्व-विरति चारित्र एक साथ प्राप्त करते हैं।

केवल ज्ञान तथा केवल दर्शन में भवस्थ केवली सम्यक्त्व एवं सर्व-विरति चारित्र के पूर्व-प्रतिपन्न ही होते हैं, अतः नवीन प्राप्त करना ही नहीं पड़ता।

प्रश्न—सिद्धान्त में तो यह कहा गया है कि समस्त प्रकार की लब्धियों की प्राप्ति साकार उपयोग वाली आत्मा को ही होती हैं, निराकार उपयोग वाली आत्मा को नहीं होती, तो यहाँ निराकार उपयोग में भी चारों सामायिकों की प्राप्ति हो सकती है, यह किस प्रकार हो सकता है?

उत्तर—उपर्युक्त सिद्धान्त का नियम प्रवर्धमान परिणाम वाले जीवों की अपेक्षा से है, अर्थात् जैसे जीव साकार उपयोग में ही समस्त प्रकार की लब्धि एवं सम्यक्त्व आदि सामायिक प्राप्त करते हैं, परन्तु स्थिर परिणाम वाले जीव तो निराकार उपयोग में भी चारों प्रकार की सामायिक प्राप्त कर सकते हैं। इस प्रकार उपर्युक्त विरोध नहीं रहता।

प्रश्न—आपके कथनानुसार निराकार उपयोग में भी यदि लब्धि की उत्पत्ति होती हो, तो आगम ग्रन्थों में यह विधान क्यों किया गया है कि साकार उपयोग वाले को ही लब्धि उत्पन्न होती है?

उत्तर—इसका कारण यह है कि लब्धियों की प्राप्ति प्रायः प्रवर्धमान-परिणामी जीवों को ही होती है। जीव के स्थिर परिणाम तो औपशमिक सम्यक्त्व आदि की प्राप्ति के समय ही होते हैं। अतः निराकार उपयोग वाले को अत्यन्त ही अल्प समय में लब्धि प्राप्त होती होने से यहाँ उसकी विवक्षा नहीं की गई है।

इस सम्बन्ध में विशेष स्पष्टीकरण करते हुए वृत्तिकार महर्षि एक महत्वपूर्ण निदेश देते हैं कि—"जब आगम ग्रन्थों की कोई भी बात परस्पर विरोधाभास प्रकट करती हो तो उसका सापेक्ष रीति से, स्याद्वाद दृष्टि से समन्वय करके दोनों बातों का रहस्य समझने का प्रयास करना चाहिये।" केवल स्थूल दृष्टि से प्रतीत होते विरोध को आपत्तिजनक मान लेने की गम्भीर भूल न हो जाये उसकी विशेष सावधानी रखनी चाहिये, अन्यथा 'उत्सूत्रप्ररूपण' का महान पाप लगे बिना नहीं रहेगा।

वृत्तिकार महर्षि का विशेष स्पष्टीकरण-प्रस्तुत आगम-पंक्ति

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

'सव्वाओ लद्धिओ सागारोवओगम्मि'—'समस्त लब्धि साकार उपयोग में उत्पन्न होती हैं—यह बताती है। दूसरी एक आगम-पंक्ति का कथन है कि—'उवओगदुगम्मि चउरोपडिवज्जे'—दोनों उपयोगों में चारों सामायिक प्राप्त होती हैं।

स्थूल दृष्टि से परस्पर विरोधी प्रतीत होती इन दोनों पंक्तियों का सापेक्षता से इस प्रकार समन्वय किया जा सकता है। जो जीव एक बार सम्यक्त्व प्राप्त करने के पश्चात् मिथ्यात्व में जाते हैं, तब उनमें से अनेक जीवों को शुभ कर्मोदय से प्रतिक्षण प्रवर्धमान विशुद्ध परिणाम उत्पन्न होने पर जो सम्यक्त्व, चारित्र आदि लब्धि अथवा अवधिज्ञान आदि लब्धि प्राप्त होती हैं वे साकार उपयोग की अवस्था में प्राप्त हुई हैं यह समझें और जो जीव सर्वप्रथम सम्यक्त्व की प्राप्ति के समय अन्तरकरण में प्रविष्ट होकर स्थिर अध्यवसायी बनते हैं, उस समय उन्हें जो सम्यक्त्व आदि लब्धि प्राप्त होती हैं, वे निराकार उपयोग में प्राप्त हुई हैं यह समझें।

अन्तरकरण में स्थिर जीव सम्यक्त्व एवं श्रुत सामायिक एक साथ प्राप्त करते हैं। उनमें भी अनेक अत्यन्त विशुद्ध परिणाम वाले जीव देश-विरति भी प्राप्त करते हैं और कोई अत्यन्त विशुद्ध परिणामी आत्मा सर्व-विरति प्राप्त करती है। इस प्रकार उपशम सम्यक्त्व की प्राप्ति के समय स्थिर परिणामी निर्विकल्प उपयोग में प्रवर्तित आत्मा को चारों सामायिक प्राप्त हो सकती हैं, इसमें तनिक भी विरोध नहीं आता।

उपशम सम्यक्त्व प्राप्ति की विशेष प्रक्रिया कर्म-ग्रन्थ आदि से समझ लें। उसका संक्षिप्त सार यह है कि वन में लगी भयंकर दावाग्नि भी ऊसर भूमि के समीप आकर स्वतः ही शान्त हो जाती है। इस प्रकार अन्तरकरण की मिथ्यात्व अग्नि शान्त होने पर जीव 'उपशम सम्यक्त्व' प्राप्त करता है।

प्रश्न—अन्तरकरण में जीव के परिणाम स्थिर क्यों हो जाते हैं?

उत्तर—अन्तरकरण में मिथ्यात्व का उदय नहीं होने से अध्यवसाय को हानि नहीं होती और सत्तागत मिथ्यात्व शान्त हो जाने के कारण परिणामों में वृद्धि नहीं होती। जिस प्रकार ईंधन के अभाव में दावानल में वृद्धि नहीं होती, उसी प्रकार वेदन-योग्य मिथ्यात्व पुद्गलों के अभाव में अन्तरकरण वाली अवस्था में जीव के विशुद्ध परिणाम स्थिर रहते हैं, उनमें वेग उत्पन्न नहीं होता।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

निष्कर्ष यह है कि जब आत्मा का उपयोग विशुद्ध होता है तब चारों सामायिकों की प्राप्ति होती है।

उपयोग क्या है? उपयोग[1] जीव का लक्षण है। जीव लक्ष्य है, उपयोग लक्षण है। लक्षण के द्वारा लक्ष्य का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। आत्मा अनादि-सिद्ध, स्वतन्त्र द्रव्य है और वह अनन्त गुण-पर्यायमय है। उन सब में 'उपयोग' प्रधान है। इसके द्वारा ही जड़ और जीव में भेद किया जा सकता है, क्योंकि न्यूनाधिक अंश में शुभ अथवा अशुभ रूप में यह उपयोग समस्त आत्माओं में सदा विद्यमान होता है, जबकि जड़ में यह तनिक भी नहीं होता। उपयोग अर्थात् बोध रूप व्यापार। यह बोध-रूप व्यापार चेतना शक्ति के कारण ही होता है। जड़ में चेतना शक्ति नहीं होने से उसमें बोध क्रिया—उपयोग भी नहीं है।

ज्ञान आदि गुण तथा औपशमिक आदि भाव भी जीव के लक्षणों के रूप में बताये गये हैं। फिर भी 'उपयोग' का पृथक कथन जो तत्वार्थ सूत्र में श्री उमास्वाति महाराज ने किया है, उससे ज्ञात होता है कि उपयोग जीव का असाधारण धर्म है, जो समस्त आत्माओं में सब काल साथ रहने वाला है; जबकि औपशमिक आदि भाव जीव का स्वरूप होते हुए भी वे एक साथ समस्त जीवों में नहीं होते और समस्त कालों में भी नहीं होते। समस्त आत्माओं में समस्त कालों में स्थिर रहने वाला एक जीवत्व रूप पारिणामिक भाव है और उसका फलितार्थ उपयोग ही होता है।

इस उपयोग के मुख्य दो भेद हैं जिनका सामान्य निर्देश पहले किया जा चुका है। अब हम उस पर विशेष विचार करेंगे।

(१) साकार उपयोग रूप बोध ग्राह्य पदार्थ को विशेष रूप से बतलाता है और उसे ज्ञान अथवा सविकल्प बोध भी कहते हैं।

(२) निराकार उपयोग रूप बोध-ग्राह्य पदार्थ को सामान्य रूप से बताता है और उसे दर्शन तथा निर्विकल्प बोध भी कहते हैं।

पाँच ज्ञान और तीन अज्ञान की अपेक्षा से साकार उपयोग के आठ भेद और चार दर्शन की अपेक्षा से निराकार उपयोग के चार भेद बताये गये हैं। इस तरह उपयोग के कुल बारह भेद होते हैं।

इस विराट विश्व में अधिकतर जीव अज्ञान आदि के कारण अशुभ

---

१ "उपयोगो लक्षणम्" —तत्त्वार्थ सूत्र, अध्याय २, सूत्र ८

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

उपयोग वाले ही होते हैं। जीव का शुभ उपयोग महान पुण्योदय से होता है।

निर्ग्रन्थ सद्गुरु आदि के शुभ संयोग से उनका धर्मोपदेश श्रवण करने से तत्व-श्रद्धा उत्पन्न हो, संसार की विषमता एवं असारता समझ में आये, उनके प्रति तीव्र राग-द्वेष क्षीण हो जाये और हिंसा आदि पाप प्रवृत्तियों का परित्याग करके सद् अनुष्ठानों का सेवन करता है तब जीव का अशुभ उपयोग मिट कर शुभ बनता है।

तत्पश्चात् ज्यों-ज्यों आध्यात्मिक विकास में वृद्धि होती जाती है, त्यों-त्यों यह उपयोग शुभ, शुभतर होते-होते क्रमशः सर्वथा विकल्प रहित हो जाता है और इस अवस्था में ही साधक व्यक्ति अपने शुद्ध स्वभाव का आंशिक अनुभव करता है।

'उपशम सम्यक्त्व की प्राप्ति के समय अविकल्प-निराकार उपयोग में वर्तमान आत्मा को सर्व-प्रथम स्वशुद्ध स्वभाव की अनुभूति होती है।' यह आगम-पंक्ति अत्यन्त ही मननीय है। उपयोग का कोई गुप्त रहस्य इसमें लुप्त प्रतीत होता है।

इस उपशम सम्यक्त्व अवस्था में 'निराकार उपयोग' होता है अर्थात् अचक्षुदर्शनात्मक मन का अविकल्प उपयोग होता है।

मन की निर्विकल्प अवस्था तक पहुंचने के लिये विभिन्न शास्त्रों में यम-नियम आदि तथा भक्तियोग, राजयोग और ज्ञानयोग आदि अनेक प्रक्रिया बताई गई हैं।

'साकार एवं निराकार उपयोग में ही समस्त प्रकार की लब्धियाँ एवं सिद्धियाँ प्रकट होती है'—इस शास्त्रीय विधान के द्वारा 'शुद्ध उपयोग' विशिष्ट ध्यान एवं महान् समाधि स्वरूप सिद्ध होता है।

उपयोग विशिष्टता एवं तारतम्यता—श्री अनुयोग द्वार सूत्र में लोकोत्तरभाव आवश्यक के स्वरूप का वर्णन करते हुए शास्त्रकार महर्षि ने सामायिक आदि षड् आवश्यक की प्रक्रिया में प्रवृत्त साधक के उपयोग (ध्यान) में कैसी विशिष्टता और तारतम्यता होती है उसे स्पष्ट किया है जो निम्नलिखित है—

(१) 'तच्चित्त'—वही आवश्यक कि ध्यान आदि में साधक सामान्य उपयोग वाला होता है।

(२) 'तन्मन'—वही आवश्यक कि ध्यान आदि में साधक विशेष उपयोग वाला होता है।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

(३) 'तल्लेश्य'—वही आवश्यक कि ध्यान आदि में साधक तेजो-लेश्या युक्त (शुभ परिणामी) होता है।

(४) 'तदध्यवसित'—वही आवश्यक कि ध्यान आदि में साधक क्रिया सम्पादन करने के उत्साह अथवा निश्चय से युक्त होता है।

(५) 'तत्तीव्राध्यवसान'—वही आवश्यक कि ध्यान आदि में साधक आरम्भ से ही प्रतिक्षण उन्नतिशील विशिष्ट प्रकार का प्रयत्न करता है।

(६) 'तदर्थोपयुक्त'—वही आवश्यक कि ध्यान आदि में साधक पदार्थ के अर्थ में अत्यन्त उपयोग वाला (प्रशस्ततर संवेग से विशुद्ध होकर प्रत्येक सूत्र एवं क्रिया के अर्थ में उपयुक्त) होता है।

(७) 'तदर्पितकरण'—वही आवश्यक कि ध्येय पदार्थ के अर्थ में साधक के रजोहरण आदि उपकरण और मन, वचन, काया आदि योग यथायोग्य अर्पित—नियुक्त हुए होते हैं।

(८) 'तद्भावभावित'—वही आवश्यक कि ध्येय पदार्थ के अर्थ की भावना (प्रवाह युक्त पूर्व संस्कारों की धारा) से साधक तादात्म्य होता है।

(९) 'प्रस्तुत क्रिया के अतिरिक्त अन्य किसी क्रिया में साधक अपना मन जाने नहीं देता।'

उपर्युक्त समस्त विशेषण उपयोग का प्रकर्ष बताने वाले अर्थात् उपयोग की विशेष वृद्धि होती विशुद्धि के ही द्योतक होने से एकार्थ-वाची हैं।

आवश्यक अथवा ध्यान करते समय जब चित्त की एकाग्रता में वृद्धि होने लगती है, तब सर्वप्रथम साधक का ध्येय विषय में सामान्य[1] उपयोग होता है, तत्पश्चात् उक्त उपयोग विशिष्ट[2] कोटि का हो जाता है, फिर शुभ परिणाम रूप[3] लेश्या उत्पन्न होती है (अर्थात् तेजो, पद्म अथवा शुक्ल लेश्या के परिणाम होते हैं) चतुर्थ भूमिका में ध्यान आदि क्रिया की[4] पूर्णा-हुति करने के लिये अपूर्व उल्लास उत्पन्न होता है और आत्मविश्वास जागृत होता है कि—'प्रारम्भ किया हुआ यह ध्यान अवश्य पूर्ण होगा।' तत्पश्चात् क्रिया के प्रारम्भ से[5] ही वृद्धि की ओर बढ़ने वाले अध्यवसायों की उन्नति होती है, जिससे ध्येय के[6] अर्थ में विशुद्ध संवेगयुक्त अपूर्व एकाग्रता उत्पन्न होती है। फिर अर्थोपयोग के फलस्वरूप मन[7] वचन और काया इन तीनों के ध्येय के स्वरूप में तद्रूप हो जाते हैं, जिससे साधक साध्य[8] के साथ अंगांगी भाव से तादात्म्य हो जाता है। फिर तो साधक का मन ध्येय के चिन्तन[9] के अतिरिक्त अन्यत्र जाने के लिये प्रेरित होता ही नहीं।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

इस प्रकार ध्यान अथवा आवश्यक क्रिया 'लोकोत्तर-भाव क्रिया' बन जाती है जो शीघ्र फलदायिनी होती है। इस क्रिया को 'अमृत-क्रिया' भी कहा जा सकता है।

उपयोग और ध्यान—उपयोग और ध्यान इन दोनों में कितना साम्य है, उस पर शास्त्रीय पाठों के निर्देश सहित चिन्तन किया जाता है जिससे जिज्ञासुओं को "उपयोग" की रहस्यपूर्ण विशिष्टता का सुन्दर ख्याल आ जायेगा।

ध्यान

(१) "अन्तोमुहुत्तमित्तं चित्तावत्थाणमेग-वत्थुम्मि।"

एक ही वस्तु में अन्तर्मुहूर्त काल तक चित्त का अवस्थान ध्यान है।

(समवायांगसूत्र)

(२) "ध्यानं चैकाग्रसंवित्तिः।"

एकाग्रज्ञान अर्थात् ज्ञान की एकाग्रता ही ध्यान है। (ज्ञानसार)

ध्यान की विविध व्याख्याएँ

समस्त इन्द्रियों को भ्रूमध्य आदि स्थानों में केन्द्रित करके जो चिन्तन किया जाता है उसे भी ध्यान कहते हैं।

श्रुत ज्ञान को भी "शुभ ध्यान" कहा है। चिन्ता और भावनापूर्वक स्थिर अध्यवसाय को भी ध्यान माना है।

निराकार-निश्चल बुद्धि, एक प्रत्यय-संतति, सजातीय प्रत्यय की धारा, परि-स्पंद-वर्जित एकाग्र चिन्ता निरोध, आदि ध्यान की अनेक व्याख्या की गई हैं।

ध्यान अथवा समाधि में भी "एकाग्र उपयोग" को अत्यन्त ही प्रधानता दी गई है।

ध्याता का ध्येय में एकाग्र उपयोग

उपयोग

(१) 'उवओगंतमुहुत्तं'

उपयोग का उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त है। (विशेषा०; गाथा २७६३)

(२) उपयोग ज्ञान और दर्शन स्वरूप है।

(अ) ज्ञपरिज्ञा, (ब) प्रत्याख्यान परिज्ञा।

(अ) ज्ञपरिज्ञा आत्मज्ञान स्वरूप है।

(ब) प्रत्याख्यान परिज्ञा आत्मानुभूति स्वरूप है।

भाव निक्षेप के दो प्रकार—

(अ) आगम (ब) नोआगम

(अ) आगम से भाव निक्षेप अर्थात् ज्ञानोपयोग वाली आत्मा।

(ब) नोआगम से भाव-निक्षेप अर्थात् ज्ञानयुक्त अनुभूति वाली आत्मा।

भाव निक्षेप के दोनों प्रकारों में "उपयोग" अवश्यमेव होता है।

प्रथम प्रकार में ज्ञान-उपयोग की प्रधानता है।

दूसरे प्रकार में उपयोग युक्त अनुभूति की प्रधानता है।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

"ध्यान" है और ध्येयाकार को प्राप्त उपयोग "समाधि" है।

योगशास्त्र में प्रणिधान और समापत्ति के दो प्रकार बताये गये हैं—

(१) संभेद प्रणिधान,[1] जो सविकल्प ध्यान रूप है।

(२) अभेद प्रणिधान, जो निर्विकल्प ध्यान रूप है।

समापत्ति-समाधि के दो भेद—

(१) सवितर्क समाधि—पर्यायियुक्त स्थूल अथवा सूक्ष्म द्रव्य का ध्यान।

(१) निर्वितर्क समाधि—पर्यायरहित स्थूल अथवा सूक्ष्म द्रव्य का ध्यान।

पातंजल योगदर्शन और अभिमत समापत्ति की व्याख्या—

"क्षीणवृतेरभिजातस्येव मणेर्ग्रहीतृ - ग्रहण–ग्राह्येषुतात्स्थ्यतद जनता समापत्तिः।"

उत्तम जातीय स्फटिक मणि तुल्य राजस एवं तामस वृत्ति रहित निर्मल चित्त की गृहीता, ग्रहण एवं ग्राह्य विषयों में स्थिरता होकर जो तन्मयता होती हैं वह 'समापत्ति' है।

"योगशतक" में "उपयोग" का समीपयोग के रूप में वर्णन किया है। उप=समीप, योग=व्यापार।

समस्त अनुष्ठानों में शास्त्रोक्त विधि का पालन ही उपयोग है। इसके द्वारा योग की शीघ्र सिद्धि होती है।

इस कारण वह "समोपयोग" कहलाता है।

आगम ग्रन्थों में "तद्चित्त" आदि पदों के द्वारा उपयोग तारतम्य बताया गया है। उसके सम्बन्ध में आचार्य हरिभद्रसूरिजी महाराज ने भी अपने "योग-शास्त्र" में कहा है कि ध्येय पदार्थ में तद्चित्त (एकाग्र) चित्त वाले को तथा सतत उपयोग रहने से तत्वभासन (अनुभव ज्ञान) होता है; अर्थात् वस्तु का वास्तविक स्वरूप समझ में आता है और उक्त तत्वभासन (अनुभव ज्ञान) ही इष्टसिद्धि का प्रधान अंग है।

"सकललब्धिनिमित्त साकारोपयोगत्वाद् इष्टसिद्धेः।"

अनुभवज्ञान साकारोपयोगमय है, अतः वह समस्त प्रकार की सिद्धियों और लब्धियों का बीज है और इसके द्वारा "इष्ट सिद्धि" भी अवश्य होती है।

उपयोग के दो प्रकार—

(अ) साकार, (ब) निराकार।

---

(१) जिस प्रणिधान में ध्याता का ध्येय के साथ संश्लेष-सम्बन्ध रूप भेद होता है, उसे संभेद प्रणिधान कहते हैं।

(२) जिस प्रणिधान में ध्येय के साथ अपनी आत्मा का समस्त प्रकार से अभेद भावित हो, उसे अभेद प्रणिधान कहते हैं।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

जो समापत्ति शब्द, अर्थ और ज्ञान के विकल्पों से युक्त होती है उसे 'सविकल्प अथवा सवितर्क' समापत्ति कहते हैं।

जो शब्द, अर्थ और ज्ञान से रहित केवल ध्येयाकार (अर्थ) के रूप में प्रतीत होती हो तो वह 'निर्विकल्प निर्वितर्क' समापत्ति कहलाती है।

उपर्युक्त दोनों भेद स्थूल, भौतिक पदार्थ-विषयक समापत्ति के जानें। सूक्ष्म परमाणु आदि विषय वाली समापत्ति को 'सविचार एवं निर्विचार' समापत्ति कहते हैं। इस चारों प्रकार की समापत्ति को 'संप्रज्ञात समाधि' भी कहा जा सकता है।

इस प्रकार जब ज्ञाता का उपयोग ज्ञेयाकार के रूप में परिणत हो जाता है तब वह 'समापत्ति' कहलाता है।

(अ) साकार उपयोग भेदग्राहक है।

(ब) निराकार उपयोग अभेदग्राहक है।

जैनागम दृष्टि से समापत्ति—

जिस पदार्थ का ज्ञाता उसके उपयोग वाला हो तो वह ज्ञाता भी तत्परिणत होने से आगम से भाव निक्षेप से "तत्स्वरूप" कहलाता है। जिस प्रकार नमस्कार में[1] उपयोग वाली आत्मा नमस्कार परिणत होने से "नमस्कार" कहलाती है।

मणाविव प्रतिच्छाया
समापत्तिः परात्मनः।
क्षीणवृत्तौ भवेद ध्यानाद्
अन्तरात्मनि निर्मले ॥ (ज्ञान०)

मणि के समान निर्मल वृत्ति वाली अन्तरात्मा में एकाग्र ध्यान के द्वारा जो परमात्मा का प्रतिबिम्ब पड़ता है वही समापत्ति है। अथवा अन्तरात्मा में परमात्मा के गुणों का अभेद आरोप करना "समापत्ति" है। यह अभेद आरोप गुणों के संसर्गारोप से सिद्ध होता है।

संसर्गारोप अर्थात् सिद्ध परमात्मा के अनन्त गुणों में अन्तरात्मा का एकाग्र उपयोग, ध्यान अथवा स्थिरता होना (संसर्गारोप चित्त की निर्मलता होने से ही होता है)।

उपर्युक्त शास्त्र-पाठों के द्वारा समन्वय दृष्टि से अनुप्रेक्षा करने वाला वाचक सरलतापूर्वक समझ सकता है कि समस्त प्रकार के योगों में चित्त की स्थिरता, एकाग्रता अथवा तन्मयता के रूप में 'उपयोग' अवश्य होता है।

---

१ नमोक्कार परिणओ जो तओ नमोक्कारो। —विशेषावश्यक, गाथा २९३२

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

उपयोग के ज्ञान स्वरूप एवं दर्शन स्वरूप दो भेद बताने के पीछे मुख्य कारण यही है कि लब्धि-शक्ति के रूप में ये दोनों (ज्ञान-दर्शन) सहचारी होते हुए भी उन दोनों का 'उपयोग' साथ-साथ नहीं होता।

'उपयोग' क्रमवर्ती है। एक साथ अनेक क्रियाएँ करने पर भी जीव का उपयोग एक समय में एक क्रिया में ही होता है।

'विशेषावश्यक भाष्य" में स्पष्टतया कहा है कि 'जिस समय उपयोग-मय जीव (केवल उपयोग से निर्वृत) इन्द्रिय अथवा मन से जिस जिस विषय में सम्मिलित होता है, उस समय उसमें ही उपयुक्त बना हुआ वह वस्तु के उपयोग वाला होता है, परन्तु उस समय उसे अन्य पदार्थ का बोध नहीं होता।'

विशेष स्पष्टीकरण करते हुए भाष्यकार महर्षि कहते हैं कि जिस समय जीव किसी एक क्रिया में विवक्षित अर्थात् पदार्थ के चिन्तन में उपयुक्त बनता है, तब वह अपनी समग्र, सम्पूर्ण ज्ञान-शक्तिपूर्वक उसमें तन्मय हो जाता है; अर्थात् समस्त आत्म-प्रदेशों के द्वारा वह एक ही पदार्थ के उपयोग में योजित हो जाता है। तत्पश्चात् उसके पास अन्य कोई भी ज्ञान-शक्ति शेष नहीं रहती, कि जिसके द्वारा वह उसी समय अन्य किसी पदार्थ में अथवा क्रिया में 'उपयोग' रख सके।

उपयोग की इस स्पष्ट व्याख्या की समापत्ति के लक्षणों के साथ तुलना करने पर उन दोनों में कोई अर्थ-भेद प्रतीत नहीं होता, क्योंकि समा-पत्ति में जिस प्रकार ध्याता के ध्यान की ध्येयाकार में परिणति होती है, उसी प्रकार से उपयोग में भी ज्ञाता के ज्ञान की ज्ञेयाकार में परिणति होती है, तो ही उसे उस पदार्थ का स्पष्ट बोध होता है, अन्यथा नहीं।

चारों सामायिक की प्राप्ति के समय सामायिकवान् व्यक्ति का साकार अथवा निराकार उपयोग अवश्य होता है; इस कारण ही सामायिक में 'समाधि अथवा समापत्ति' आदि योगों का अन्तर्भाव हो चुका है।

साधु की दिनचर्या में भी प्रतिक्रमण एवं प्रतिलेखन के पश्चात् सज्झाय (शास्त्राध्ययन) एवं उपयोग करने का जो विधान है उसमें 'उपयोग' शब्द अत्यन्त ही रहस्यमय है, जिससे 'योगाभ्यास' आदि का ज्ञान होता है। कहा भी है कि—

'गुरु-विनय, स्वाध्याय, योगाभ्यास, परार्थकरण और इतिकर्त्तव्यता साधु की सच्चेष्टाएँ हैं।' —(षोडशक)

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

उपयोग आत्मा का स्वभाव होने से गुणस्थानक की प्रथम भूमिका से प्रारम्भ होकर चौदहवें गुणस्थानक तक उसकी विशुद्धि के प्रकर्ष में वृद्धि होती ही रहती है।

सामायिक की प्राप्ति के पश्चात् उपयोग विशुद्ध, विशुद्धतर होता जाता है। उपयोग एवं सामायिक परस्पर एक दूसरे के पूरक हैं, सहायक हैं। समता से उपयोग विशुद्ध बनता है और उपयोग की विशुद्धता से समता (सामायिक) विशुद्ध बनती है। कहा भी है कि समता भाव[1] के बिना आत्मध्यान सम्भव नहीं है और ध्यान के बिना निष्कम्प समता प्रकट होना असम्भव है। अतः ध्यान का कारण समता है और समता का कारण ध्यान है।

यहाँ ज्ञान की एकाग्रता स्वरूप (उपयोग स्वरूप) ध्यान अपेक्षित है। जिनागमों में केवल "चित्त-निरोध" को ही नहीं, परन्तु तीनों योगों से ध्यान माना है। मन, वचन अथवा काया के अतिशय दृढ़ प्रयत्न पूर्वक किया गया व्यापार भी ध्यान ही है।

"ध्यै" धातु के अनेक अर्थ हैं, उनमें से "करण-निरोध" अर्थ लेकर केवली के "शैलेशीकरण" की प्रक्रिया के समय किये जाने वाले "काय-निरोध" रूप प्रयत्न विशेष को "ध्यान" माना गया है।

छद्मस्थ को "चित्त-निरोध" स्वरूप ध्यान होता है।

भवस्थ केवली को चिन्तन के अभाव में भी दो प्रकार का शुक्ल ध्यान होता है, जिसके होने के अनेक कारण भी हैं, जैसे—

जीव-उपयोग का ऐसा स्वभाव।
पूर्व-विहित ध्यान के संस्कार।
कर्म की निर्जरा।
एक शब्द के अनेक अर्थ।

जिस प्रकार छद्मस्थ को धर्म-ध्यान होता है, उसी प्रकार से केवली को भी अन्तिम दो शुक्ल ध्यान होते हैं। जब केवली "योग-निरोध" करते हैं, तब उन्हें दो प्रकार के ध्यान होते हैं।" यह आगम पाठ भी हेतु है।

सामायिक एवं उपयोग का सम्बन्ध—आगम ग्रन्थों में "सामायिक"

---

१ न साम्येन विना ध्यानं न ध्यानेन विना च तत्।
निष्कंपं जायते तस्मात् द्वयमन्योन्यकारणम्॥ १॥ —योगशास्त्र

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

आदि श्रुत के चार सामान्य नाम बताये गये हैं—(१) अध्ययन, (२) अक्षीण, (३) आय और (४) क्षपणा।

उसमें "अक्षीण" की व्याख्या है कि जो कदापि क्षीण न हो।

"आगम से भाव अक्षीण" उसे कहते हैं कि जो ज्ञाता उपयुक्त हो। इस पंक्ति का रहस्य प्रकट करते हुए गीतार्थ ज्ञानी महर्षि कहते हैं कि—

चतुर्दश पूर्व के पारगामी महात्माओं का उपयोग जब आगम की पर्यालोचना में जुड़ता है, तब "अन्तर्मुहूर्त" जितने समय में जिस विशुद्ध अर्थज्ञान (उपयोग पर्यायों) की विविध स्फुरणाएँ उत्पन्न होती हैं, वे संख्यातीत होती हैं अर्थात् अनन्त होती हैं। उनमें से यदि प्रत्येक बार एक-एक पर्याय का अपहार किया जाये तो अनन्त कालचक्र तक भी उक्त अपहरण की क्रिया पूर्ण नहीं हो सकती। इस कारण ही सामायिक आदि श्रुत "अक्षीण" कहलाते हैं।

इससे सामायिक की अक्षीणता एवं उपयोग का महत्व तथा दोनों का पारस्परिक गाढ़ सम्बन्ध कैसा है, यह सरलता से समझ में आ जाता है।

सामायिक एवं उपयोग की एकता

उपयोग को उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्त की ही है और सामायिक का काल भी उपयोग की अपेक्षा से इतना ही माना गया है।

सामायिक की प्राप्ति एवं अस्तित्व विशुद्ध उपयोग में होता है, अर्थात् सामायिक में विशुद्ध उपयोग अवश्य होता है। इस प्रकार दोनों कथंचिद् अभिन्न हैं।

श्रुतज्ञान का एकाग्र उपयोग श्रुत सामायिक है।

सम्यग् श्रद्धा में एकाग्र उपयोग सम्यक्त्व सामायिक है।

देशविरति के परिणाम में एकाग्र उपयोग देशविरति सामायिक है।

सर्वविरति के परिणाम में एकाग्र उपयोग सर्वविरति सामायिक है।

इस सबका तात्पर्य यही है कि समता परिणाम उपयोगयुक्त हो तो ही सामायिक कहलायेगा और उपयोग यदि समता परिणामयुक्त हो तो ही विशुद्ध उपयोग कहलाता है। इस प्रकार उपयोग सामायिकमय है और सामायिक उपयोगमय है। ये दोनों परस्पर एक-दूसरे से संकलित हैं। क्षण भर के लिये भी ये दोनों एक-दूसरे से अलग नहीं रह सकते; फिर भी विवक्षा-भेद से उनका स्वरूप भिन्न-भिन्न प्रकार से बताया गया है। परमार्थ से वे दोनों आत्म-परिणाम स्वरूप होने से एक ही हैं, उपयोगमय आत्मा सामायिक है।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

(२२-२३) **संस्थानद्वार, संघयणद्वार**—छओं संस्थान और संघयण में चारों सामायिक प्राप्त हो सकती हैं और प्राप्त किये हुए जीव होते हैं।

(२४) **अवगाहना द्वार**—अवगाहना अर्थात् देह की ऊँचाई का द्वार (नाप)।

मनुष्य की उत्कृष्ट अवगाहना तीन कोस और जघन्य से उंगली का असंख्यातवाँ भाग है। इस उत्कृष्ट और जघन्य के अतिरिक्त समस्त मध्यम अवगाहना में आने वाले समस्त मनुष्य सामायिक प्राप्त करते हैं और प्राप्त किये हुए तो होते ही हैं।

जघन्य अवगाहना वाले गर्भज मनुष्य सम्यक्त्व और श्रुत सामायिक के पूर्वप्रतिपन्न होते हैं, प्रतिपद्यमान नहीं। उत्कृष्ट अवगाहना वालों को ये दोनों सामायिक दोनों तरह से होती हैं।

जघन्य मान वाले देव, नारक भी इन दोनों सामायिकों के पूर्व प्रतिपन्न होते हैं, प्रतिपद्यमान नहीं। मध्यम एवं उत्कृष्ट देह-मान वाले इन दोनों आद्य दो सामायिकों के प्रतिपद्यमान एवं पूर्व प्रतिपन्न होते हैं।

तिर्यंच पंचेन्द्रिय जघन्य अवगाहना वाले इन दोनों सामायिकों के पूर्वप्रतिपन्न होते हैं, प्रतिपद्यमान नहीं। उत्कृष्ट अवगाहना वाले दोनों तरह से दोनों सामायिक प्राप्त करते हैं। मध्यम देह-मान वाले अथवा सर्वविरति के अतिरिक्त तीन सामायिकों के प्रतिपद्यमान संभव होते हैं। पूर्वप्रतिपन्न तीनों के होते ही हैं।

(२५) **लेश्याद्वार**—सम्यक्त्व और श्रुत सामायिक समस्त लेश्याओं में प्राप्त होती है। देशविरति और सर्वविरति सामायिक तेजस, पद्म और शुक्लरूप शुद्ध लेश्या में प्राप्त होती हैं, जबकि पूर्वप्रतिपन्न तो छः में से किसी भी लेश्या में चारित्री एवं सम्यग्दृष्टि को होती है।

(२६) **परिणामद्वार**—आत्मा के परिणाम-अध्यवसाय, तीन प्रकार के होते हैं। (१) वर्धमान—वृद्धि होते, (२) हीयमान—घटते, (३) अवस्थित—स्थिर।

शुभ शुभतरपन से वृद्धि होते परिणाम में जीव चारों सामायिकों में से किसी भी सामायिक को प्राप्त करता है। इसी प्रकार अन्तरकरणादि अवस्थित शुभ परिणाम में समझें।

हीयमान—हानि होते शुभ परिणाम में कोई भी सामायिक प्राप्त नहीं होती।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

पूर्वप्रतिपन्न तीनों प्रकार के परिणाम में होती है, अर्थात् सामायिक प्राप्त होने के पश्चात् उसमें हो स्थित जोव के शुभ परिणाम में ज्वार-भाटा हो सकता है।

आत्म-परिणामों की वृद्धि एवं हानि का काल जघन्य से एक समय और उत्कृष्ट से अन्तर्मुहूर्त का हो है। अतः आगे एकधारी विशुद्धि अथवा सँक्लेश नहीं टिक सकते, परन्तु उनमें तनिक परिवर्तन अवश्य होता है।

अवस्थित परिणाम अर्थात् वृद्धि-हानि का मध्य काल, अर्थात् वृद्धि अथवा हानि वाले अध्यवसाय स्थान में आत्मा स्थिर रहे तो अधिक से अधिक आठ समय तक रह सकतो है, तत्पश्चात् अथवा तो वर्धमान परिणामी बनती है अथवा होयमान परिणामो बनतो है।

परिणाम की इस परावृत्ति का हेतु उसका तथा-स्वभाव हो है, अन्य कोई कारण नहीं है।

(२७) **वेदना द्वार**—शाता एवं अशाता रूप द्विविध वेदना में जीव चार में से कोई भो सामायिक प्राप्त कर सकता है, तथा पूर्वप्रतिपन्न भो होता है।

इस द्वार से सूचित होता है कि केवल शारीरिक अनुकूलता अथवा प्रतिकूलता सामायिक की प्राप्ति में कारणभूत नहीं है। भयंकर वेदना को समभाव से सहन करते हुए मुनि केवलज्ञान प्राप्त करते हैं और नरक में घोर यातनाओं से पोड़ित नारकाय जोव भो सम्यक्त्व आदि प्राप्त कर सकते हैं।

(२८) **समुद्घात द्वार**—एक साथ प्रबलतापूर्वक कर्म का घात करना "समुद्घात" कहलाता है। इसके सात भेद हैं—

(१) वेदना, (२) कषाय, (३) मृत्यु, (४) वैक्रिय, (५) तैजस, (६) आहारक और (७) केवलो समुद्घात।

समुद्घात करते समय जोव वेदना के साथ तन्मयता प्राप्त करता है, जिससे वह एक भो नवीन सामायिक प्राप्त नहीं कर सकता। पूर्वप्रतिपन्न दो अथवा तीन सामायिकों का हाता है, जिसमें "केवलो समुद्घात" में सम्यक्त्व एवं चारित्र सामायिक होतो हैं और शेष समुद्घात में सम्यक्त्व, श्रुत एवं देशविरति अथवा सर्वविरति दो में से एक—इस तरह तीन सामायिक होती हैं।

समुद्घात नहीं करने वाला जोव किसी भो सामायिक का प्रतिपद्यमान और पूर्वप्रतिपन्न होता है।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

पहले "वेदना द्वार" में सामायिक की प्राप्ति का विधान किया गया है और यहाँ "वेदना समुद्घात" में निषेध किया गया है जिसका कारण स्पष्ट है कि समुद्घात के समय वेदना, कषाय आदि उत्कट होते हैं और साथ ही साथ जीव के परिणाम भी तद्रूप होते हैं जिससे व्याकुलता विशेष प्रमाण में होती है, परिणाम अत्यन्त संक्लिष्ट बने हुए होते हैं। अतः तीव्र संक्लेश में सामायिक समता भाव की उत्पत्ति कैसे हो सकती है?

"केवली समुद्घात सम्बन्धी विशेषता का वर्णन आगे "स्पर्शना द्वार" में किया जायेगा।"

(२९) **निवेष्टन द्वार (निर्जरा)**—(१) द्रव्य से समस्त कर्म-प्रदेशों की अर्थात् सामायिक के आवारक ज्ञानावरणीय, मोहनीय, कर्म-प्रदेशों की निर्जरा करने वाला और (२) भाव से क्रोध आदि कषायों की परिणति को घटाने वाला जीव किसी भी सामायिक को प्राप्त करता है और पूर्व प्रतिपन्न होता है, परन्तु जब अनन्तानुबंधी आदि बाँधता हो अथवा कषायों की वृद्धि करता हो तब जीव कोई भी सामायिक प्राप्त नहीं कर सकता। शेष कर्मों के बन्धन के समय प्रतिपद्यमान और पूर्वप्रतिपन्न दोनों हो सकते हैं।

आगे "आश्रवकरण द्वार" में इसी बात को अधिक स्पष्टतापूर्वक बताया जाता है कि जब जीव सम्यक्त्व आदि सामायिक प्राप्त करता है, तब शेष कर्मों का बन्ध शुरू होते हुए भी सामायिक के प्रतिबन्धक कर्मों की निर्जरा अवश्य करता होता है, परन्तु पूर्वप्रतिपन्न अर्थात् सामायिक प्राप्त करने के पश्चात् उक्त जीव कर्मों का सर्जन (बन्ध) और विसर्जन (निर्जरा) दोनों साथ-साथ करता रहता है।

क्रोध आदि कषायों की उत्कटता को सर्वथा क्षीण कर देने से और इन्द्रियों के विषय-वासना की तीव्र आसक्ति को तोड़ डालने से सामायिक की प्राप्ति होती है।

"विषय-विरक्ति एवं कषाय-परित्याग" के द्वारा ज्यों-ज्यों मिथ्यात्व आदि कर्मों का क्षय होता है, त्यों त्यों तात्विक सामायिक—समताभाव की मात्रा में वृद्धि होती जाती है।

(३०) **उद्वर्तना द्वार**—चारों गति में विद्यमान एवं एक से दूसरी गति में गमनागमन करने वाले जीव कहाँ-कहाँ सामायिक के प्रतिपद्यमान अथवा पूर्वप्रतिपन्न होते हैं उसका विचार यहाँ किया जाता है।

(क) नरक गति स्थित जीव प्रथम दो सामायिक प्राप्त कर सकता है

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

और उन दो का पूर्वप्रतिपन्न होता है, नरक गति में से निकला हुआ जीव यदि तिर्यंच में उत्पन्न हुआ हो तो सर्वविरति के अतिरिक्त तीन और मनुष्य गति में उत्पन्न हुआ हो तो चारों सामायिक प्राप्त कर सकता है, पूर्व प्रतिपन्न तो होता ही है।

(ख) तिर्यंच गति में स्थित जीव आद्य तीन सामायिक प्राप्त कर सकता है और सामायिक प्राप्त किये हुए जीव तो होते ही हैं। वहाँ से निकलकर देव गति और नरक गति में उत्पन्न होने वाले जीव आद्य दो और तिर्यंच में उत्पन्न होने वाले जीव आद्य तीन और मनुष्य गति में उत्पन्न होने वाले जीव चारों सामायिक प्राप्त कर सकते हैं, पूर्वप्रतिपन्न तो होते ही हैं।

(ग) मनुष्य गति में स्थित जीव चारों सामायिक का प्रतिपत्ता और पूर्वप्रतिपन्न होता है। वहाँ से निकले हुए जीव को देव गति तथा नरक गति में दो और तिर्यंच में तीन सामायिक उभय रीति से होती हैं।

(घ) देव गति में स्थित जीव आद्य दो सामायिकों का प्रतिपत्ता और पूर्वप्रतिपन्न होता है। वहाँ से च्यव कर यदि जीव तिर्यंच में आता है तो तीन और मनुष्य में चारों सामायिक दोनों प्रकार से होती हैं।

एक गति में से दूसरी गति में गमनागमन करता कोई भी जीव अन्तराल गति में कोई भी सामायिक प्राप्त नहीं करता, केवल आद्य दो सामायिकों का पूर्वप्रतिपन्न हो सकता है।

उपर्युक्त द्वार के चिन्तन से "सर्वविरति सामायिक" की अत्यन्त दुर्लभता एवं महत्ता समझी जा सकती है।

मोक्ष का अधिकारी मनुष्य ही है क्योंकि वही सर्वविरतिधर हो सकता है। तत्व-चिन्तन में ही सदा रत रहने वाले अनुत्तरवासी देव भी "सर्वविरति" प्राप्त करने के लिए मानव-जन्म प्राप्त करने के लिए लालायित रहते हैं और उसे प्राप्त करके मानव-जीवन में सम्पूर्ण संयम की सुविशुद्ध साधना करके आत्मा के शुद्ध-बुद्ध-पूर्ण स्वरूप को प्राप्त करते हैं। "चारित्र बिन मुक्ति नहीं" यह उक्ति मुक्ति की प्राप्ति के लिए "चारित्र" की अनिवार्यता बतावी है।

(३१) **आश्रवकरण द्वार**—मिथ्यात्वमोहनीय आदि कर्मों की निर्जरा करने वाला जीव कोई भी सामायिक प्राप्त कर सकता है। जो जीव पूर्व प्रतिपन्न होता है वह तो कर्म-बन्धन भी करता है कर्म-क्षय भी करता है।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

(३२, ३३, ३४, ३५, ३६) **अलंकार द्वार, शयन द्वार, आसन द्वार, स्थान द्वार, और चंक्रमण द्वार**—मुकुट, कटक आदि अलंकार धारण किये हों, धारण कर रहे हों अथवा अलंकार रहित हों वे जीव कोई भी सामायिक प्राप्त कर सकते हैं जैसे—भरत चक्रवर्ती, पृथ्वीचन्द्र आदि। इसी तरह शयन, आसन, स्थान तथा चंक्रमण का परित्याग करते हों, तीनों अवस्था में रहे हुए जीव चार में से कोई भी सामायिक प्राप्त कर सकते हैं और पूर्व-प्रतिपन्न सर्वत्र होते हैं।

सामायिक की प्राप्ति के लिए किसी निश्चित आसन अथवा स्थान आदि का नियम नहीं होता। सोते-सोते, बैठे-बैठे अथवा खड़े-खड़े और चलते-चलते भी सामायिक प्राप्त हो सकती है। वस्त्र, पात्र अथवा अलंकार मुक्ति के प्रतिबन्धक नहीं हैं, प्रतिबन्धक तो हैं राग, द्वेष और मोह। इनका नाश होने के पश्चात् संसार का कोई भी तत्व मोक्ष में प्रतिबन्धक होने में समर्थ नहीं है।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

५. सामायिक का विषय

यहाँ सामायिक के विषय की व्यापकता बताई जा रही है।

(१) सम्यक्त्व सामायिक का विषय समस्त द्रव्य और समस्त पर्याय हैं, क्योंकि सम्यग्दृष्टि आत्मा जिन-प्रणीत समस्त द्रव्यों एवं समस्त पर्यायों में श्रद्धा रखता है। एक पर्याय के प्रति भी अश्रद्धा मिथ्यात्व है। इस प्रकार सम्यक्त्व-सामायिक में समस्त द्रव्य-पर्याय श्रद्धा रूप में विषय होते हैं।

(२) श्रुत सामायिक का विषय समस्त द्रव्य और अनेक पर्याय होते हैं, क्योंकि श्रुतबोध (ज्ञान) कथनीय (शब्द-वाच्य) पर्यायों का ही बोधक होता है, परन्तु वह शब्दों के द्वारा अवाच्य पदार्थों को नहीं बता सकता।

(३) देशविरति सामायिक का विषय अमुक द्रव्य और अमुक पर्याय ही बनते हैं, क्योंकि उसमें स्थावर जीवों की हिंसा आदि का त्याग देश से किया जाता है।

(४) सर्वविरति सामायिक का विषय समस्त द्रव्य और अमुक पर्याय ही बनते हैं, क्योंकि उसमें दूसरे और पाँचवे महाव्रत में समस्त द्रव्य-विषयक असत्य एवं मूर्च्छा का त्याग किया जाता है, और जो पर्याय अवाच्य हैं उनका उपयोग नहीं हो सकता। अतः समस्त पर्याय चारित्र के विषय नहीं बन सकते।

प्रश्न—शास्त्रों में "संयम श्रेणी" के स्वरूप का वर्णन करते हुए बताया गया है कि संयम श्रेणी का प्रथम स्थान (सबसे जघन्य) भी पर्याय की अपेक्षा समस्त आकाश प्रदेशों से अनन्तगुणा है, और तत्पश्चात् के स्थान अनन्त भागवृद्ध, असंख्य भागवृद्ध संख्यात भागवृद्ध, संख्यात गुणवृद्ध, असंख्यात गुणवृद्ध और अनन्त गुणवृद्ध, ऐसे छः प्रकार की पुनः वृद्धि करते-करते असंख्यात लोकाकाश प्रदेश-तुल्य-प्रमाण वाले असंख्यात षड् स्थानकों के द्वारा "संयम श्रेणी" होती है, तो फिर यहाँ समस्त पर्याय चारित्र के विषयभूत नहीं बन सकते। क्या इस विधान का पूर्वोक्त "संयम श्रेणी" के विधान के साथ विरोध नहीं आयेगा?

उत्तर—नहीं, विरोध नहीं आयेगा, क्योंकि "संयम श्रेणी" में केवल

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

ज्ञान एवं केवलदर्शन के पर्यायों की भी विवक्षा है। इस कारण ही इस "सयम श्रेणी" को समस्त आकाश प्रदेश से अनन्त गुनी पर्याय राशि प्रमाण वाली कही गई है; जबकि यहाँ जो पर्याय चारित्र में उपयोगी हैं अर्थात् जिन्हें ग्रहण और धारण किया जा सकता है ऐसे पर्याय की ही विवक्षा की गई है, और उस प्रकार के पर्याय संख्या में अल्प होने से समस्त पर्याय नहीं, परन्तु अमुक पर्याय ही चारित्र के विषयभूत हैं—यह कहा गया है।

इस प्रकार सामायिक धर्म के विषय की विशालता से सामायिक धर्म की भी व्यापकता प्रतीत होती है, क्योंकि विषय के भेद से विषयी के भी भेद होते हैं। इस "संयम श्रेणी" के स्वरूप को गुरु-गम से समझा जाये तो सामायिक के विषय की व्यापकता का तनिक विशेष ज्ञान हो सकेगा।

सामायिक की दुर्लभता—

अकल्पनीय महिमामयी, सिद्धि-सुख-दायक सामायिक धर्म की प्राप्ति होना कोई सरल कार्य नहीं है। सामायिक धर्म अत्यन्त ही दुर्लभ है। चारों प्रकार की सामायिक प्राप्ति का महान सद्भाग्य तो एक मात्र मानव की ललाट में ही लिखा गया है, परन्तु यह मानव जन्म प्राप्त होना ही अत्यन्त कठिन है। इसकी दुर्लभता का वर्णन करने के लिए शास्त्रों में दस-दस दृष्टान्त अंकित हैं।

मनुष्य-जन्म, आर्य-क्षेत्र, उत्तम जाति, कुल, रूप, आरोग्य, दीर्घ आयु, सद्बुद्धि, सद्धर्म का अवधारण एवं श्रद्धान आदि की प्राप्ति भी दुर्लभ, दुर्लभतर है; तो फिर "सामायिक" की प्राप्ति दुर्लभतम हो तो आश्चर्य ही क्या है ?

अनादि-अनन्त काल से इस विराट संसार-सागर में प्रतिभ्रमण करते-करते जीव को उपर्युक्त दुर्लभ भावों की प्राप्ति महापुण्य योग से क्वचित् ही होती है।

दुर्लभ मानव-जन्म आदि उत्तम सामग्री प्राप्त करके भी जो व्यक्ति आत्म-भान भूलकर केवल भौतिक सुखों को प्राप्त करने और उनका उपभोग करने की अंधी दौड़-धूप में पागल हो जाते हैं, उनके हाथों से तो इस अमूल्य मानव-जीवन का अवमूल्यन ही होता है, पुण्यशाली जीवन-धन व्यर्थ नष्ट हो जाता है।

तृषा से पीड़ित कोई व्यक्ति सरोवर के किनारे आने पर भी शीतल, स्वादिष्ट जल-पान करके अपनी तृषा मिटाने के लिए कुछ भी प्रयत्न न करे तो अन्त में घुट-घुट कर काल का ग्रास बनता है; ऐसी ही दुर्दशा मानव

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

जीवन पाकर धर्म-श्रवण आदि की उत्तम सामग्री प्राप्त करके भी उसके प्रति श्रद्धा एवं उसकी आराधना किये बिना केवल मृग-तृष्णा तुल्य भौतिक सुखों के पीछे जीवन की इतिश्री मानने वाले व्यक्तियों की होती है।

मानव-जन्म प्राप्त करने की अपूर्व खुमारी जिसके हृदय में हिलोरें ले रही हो, वही व्यक्ति अहर्निश सद्धर्म का श्रवण, श्रद्धान एवं उसकी आराधना के द्वारा तन, मन और जीवन को पवित्रतम बना कर क्रमशः चारों सामायिकों को प्रकट करने के धन्यतम क्षण प्राप्त करने का परम सौभाग्य प्राप्त कर सकता है। सम्यक्त्व आदि सामायिक प्राप्त करने के अनेक निमित्त शास्त्रों में वर्णित हैं जैसे —

(१) **प्रतिमा-दर्शन**—वीतराग परमात्मा की शान्तरस प्रवाहित करती परम पावन प्रतिमा के दर्शन मात्र से युगों पुराने कर्मों के ढेर के ढेर ढहने लगते हैं, आत्मा लघु-कर्मी हो जाती है, मोह मन्द हो जाता है, राग का प्रवाह रुकने लगता है और द्वेष का दावानल बुझने लगता है। परमात्मा के शुद्धात्म स्वरूप का चिन्तन करते-करते स्वात्मा के शुद्ध स्वरूप का ध्यान आता है और उसे प्रकट करने की तीव्र रुचि, उत्कण्ठा जागृत होती है।

इस प्रकार शुभ अध्यवसायों की धारा में अग्रसर होने पर कोई पुण्यात्मा ग्रन्थि-भेद से सम्यग्दर्शन को प्राप्ति करता है अर्थात् "सम्यक्त्व सामायिक" को प्राप्त करता है। साथ ही साथ "श्रुत सामायिक" को भी और आगे बढ़कर देशविरति अथवा सर्वविरति सामायिक को भी प्राप्त कर सकता है। इस सम्बन्ध में आर्द्रकुमार का दृष्टान्त अत्यन्त प्रेरक है।

अनार्य देश में उत्पन्न होने पर भी अभयकुमार द्वारा प्रेषित परमात्मा की प्रतिमा के दर्शन मात्र से आर्द्रकुमार की आत्मा जग जाती है। सम्यग्-दर्शन की प्राप्ति, आर्य देश में आगमन, यावत् चारित्र-ग्रहण, क्षपक श्रेणी और केवलज्ञान तथा अन्त में परमपद की प्राप्ति—इस सब में मूल कारण परमात्मा की पुण्यमयी प्रतिमा का दर्शन हो तो था न ?

अरे, तिर्यंच योनि में स्थित स्वयंभूरमण समुद्र की मछली को प्रतिमा के आकार वाले अन्य मत्स्य अथवा कमल का दर्शन होने पर पूर्व अनुभूत परमात्म-दर्शन के संस्मरण जागृत होते हैं, जाति-स्मरण-ज्ञान होता है और पूर्वजन्म में की गई विराधना का यह परिणाम ज्ञात होने पर वह उसके लिये अत्यन्त पश्चात्ताप करती है जिससे उसके समस्त अशुभ कर्म जलकर भस्म हो जाते हैं और सम्यग्दर्शन की अर्थात् सम्यक्त्व सामायिक, श्रुत

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

सामायिक और देशविरति सामायिक की प्राप्ति होती है। ऐसा अद्भुत प्रभाव है परमात्मा की प्रतिमा के दर्शन का !

(२) **धर्म-श्रवण**—धर्मोपदेश के श्रवण से संसार का सत्य स्वरूप समझ में आ जाता है, विभाव[1] की भयंकरता का भान होता है और स्वभाव की सुन्दरता तथा शुभ-कारकता समझ में आती है, तब आत्मा विभाव से हटकर स्वभाव में स्थिर होती जाती है और क्रमशः सम्यक्त्व आदि सामायिक धर्म प्राप्त करके आत्मा की सच्चिदानन्दमयी पूर्णता प्राप्त करती है।

परमात्मा श्री महावीर भगवान की धर्म-देशना का श्रवण करके आनन्द और कामदेव आदि के मोह का विषय-विष उतर गया, अज्ञानान्धकार नष्ट हो गया और सम्यक्त्व आदि सामायिक धर्म की प्राप्ति हो गई तथा अन्त में वे स्वर्ग-अपवर्ग की लक्ष्मी के स्वामी बने।

(३) **पूर्व-अनुभूत क्रिया**—अन्य दर्शन के तपस्वियों आदि को अपनी क्रिया करते-करते पूर्व-जन्म में अनुभूत संयम आदि की क्रिया के जाति-स्मरण ज्ञान के द्वारा स्मरण होने पर सम्यक्त्व, श्रुत और सर्वविरति सामायिक की प्राप्ति होती है—जैसे वल्कलचीरी को उपकरणों की रज झाड़ते हुए पूर्व जन्म के संयम-जीवन में की गई प्रतिलेखन क्रिया का स्मरण हुआ और उसे सर्वविरति धर्म की प्राप्ति हुई।

(४) **कर्म-क्षय**—किसी पुण्यात्मा को तथाविध प्रबल शुभ निमित्त प्राप्त होने पर अनन्तानुबन्धी कषाय का एवं मिथ्यात्वमोहनीय कर्म का क्षय अथवा क्षयोपशम होने पर सम्यक्त्व आदि सामायिक धर्म की प्राप्ति होती है। इस विषय में चंडकौशिक सांप का दृष्टान्त आदर्शस्वरूप है।

एक समय के सुविशुद्ध संयमी महात्मा क्रोधित हाकर कुलपति बनते हैं। वहाँ भी उनकी क्रोधाग्नि अधिक प्रदीप्त होती है, जहाँ से मृत्यु होने के पश्चात्, कषाय के तीव्र परिणाम के कारण वे "चण्डकोशिक" साप बने, जिनकी केवल दाढ़ ही नहीं, परन्तु दृष्टि भी हलाहल विष से परिपूर्ण थी—ऐसा भयानक सांप ! सांप के अवतार में तो उसके क्रोध की सीमा न रही। केवल मानव ही नहीं परन्तु पशु, पक्षी आदि जो कोई उसके दृष्टि-पथ में आता वे सब उसकी विषैली दृष्टि के प्रभाव से जल कर भस्म हो जाते। परिणामस्वरूप सम्पूर्ण वन वीरान हो गया, जिससे मानव आदि कोई भी प्राणी वहाँ आने का साहस नहीं कर सकता था।

---

१ विभाव = राग-द्वेष, विषय-कषाय आदि आन्त।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

करुणानिधान भगवान महावीर उस सांप को बोध देने के लिये उसके बिल के समीप आकर कायोत्सर्ग ध्यान में लीन हो गये। मानव की गन्ध आते ही चण्डकौशिक बिल में से बाहर आया और उसने भगवान की देह पर विषाक्त दृष्टि डाली, परन्तु उन पर उसका कोई प्रभाव नहीं होता देखकर क्रोधान्ध सांप ने भगवान के चरण में कातिल डंक मारा और उसका परिणाम भी उसके अनुमान से सर्वथा विपरीत हुआ देखकर उसे अत्यन्त आश्चर्य हुआ।

भगवान के चरण से रक्त के बदले दूध की धारा प्रवाहित होती देखकर वह विचार में पड़ गया, "कौन होगा यह प्रभावशाली महापुरुष ?"

तब परमात्मा ने अपनी मधुर ध्वनि में कहा, "बुज्झ, बुज्झ, चण्डकौशिक !"

प्रभु के इतने शब्दों ने ही उसके मोह का विष उतारने में गारुड़िक मन्त्र का कार्य किया। उसके तीव्र रसयुक्त प्रगाढ़ मोहनीय कर्म की स्थिति का क्षय हुआ और चण्डकौशिक को सम्यक्त्व, श्रुत तथा देशविरति सामायिक का महान लाभ प्राप्त हो गया।

इस प्रकार कर्म-क्षय से सामायिक धर्म की प्राप्ति होती है।

(५) **कर्म का उपशम**—कोई अनादि मिथ्यादृष्टि आत्मा नदी-धोल-पाषाण की तरह आयुष्य कर्म के अतिरिक्त शेष सातों कर्मों की स्थिति को अंतःकोडाकोडी सागरोपम की करने के रूप में "यथाप्रवृत्तिकरण" करे वहाँ उसे सद्गुरु का समागम आदि शुभ निमित्त प्राप्त होने पर वह राग-द्वेष की तीव्र ग्रन्थि को भेद कर अपूर्वकरण तथा अनिवृत्तिकरण की प्रक्रिया में से पार होकर अंतरकरण में प्रविष्ट होता है, जहाँ मिथ्यात्वमोहनीय कर्म का सर्वथा उपशम हो चुका होता है, अर्थात् मिथ्यात्व का एक भी दलिक वेदना नहीं पड़ता। ऐसे अन्तरकरण में प्रविष्ट होते ही सम्यक्त्व सामायिक की प्राप्ति होती है।

शास्त्रों में कर्म के उपशम से सामायिक धर्म की प्राप्ति के लिये अंगर्षि मुनि का दृष्टान्त आता है।

(६) **मन, वचन, काया की प्रशस्त प्रवृत्ति**—जब हलुकर्मी आत्मा मन, वचन, काया को अशुभ प्रवृत्ति में से निवृत्त करके शुभ प्रवृत्ति में प्रवृत्त करती है तब उसके शुभ कर्मों का अनुबन्ध शिथिल हो जाता है और शुभ निमित्तों के समागम से कर्म का क्षयोपशम आदि होने पर सम्यक्त्व

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

आदि सामायिक की प्राप्ति होती है। इसके अतिरिक्त अन्य अनेक प्रकार से भी सामायिक धर्म की प्राप्ति होती है, जिसके विषय में "आवश्यक सूत्र" में दृष्टान्त के साथ विचार किया गया है, जिसका संक्षिप्त सार निम्नलिखित है—

(१) अनुकम्पा—जीवों की अनुकम्पा से भी "वैद्य" की तरह शुभ परिणाम आने से सामायिक प्राप्त हो सकती है।

(२) अकाम निर्जरा से भी "मिंढ" की तरह शुभ परिणाम आने से सामायिक प्राप्त हो सकती है।

(३) बाल-तप से भी "इन्द्रनाग" की तरह शुभ परिणाम आने से सामायिक प्राप्त हो सकती है।

(४) यथाशक्ति श्रद्धापूर्वक सुपात्र को दान देने से "कृतपुण्य" की तरह शुभ परिणाम आने से सामायिक प्राप्त हो सकती है।

(५) विनय की आराधना करने वाले 'पुण्यशाल सुत" की तरह शुभ परिणाम आने से सामायिक प्राप्त हो सकती है।

(६) विभंगज्ञानी होते हुए भी किसी पुण्यशाली को "शिवराजर्षि" की तरह शुभ परिणाम आने से सामायिक प्राप्त हो सकती है।

(७) अनुभूत द्रव्य-संयोग का वियोग होने पर संसार की नश्वरता का विचार आने से मथुरा नगरी के दो वणिकों की तरह भी सामायिक धर्म प्राप्त हो सकता है।

(८) अनुभूत संकट से भी कोई आत्मा सामायिक प्राप्त करती है। जिस प्रकार दो भाइयों द्वारा बैलगाड़ी के पहियों के नीचे मार डाली गई उल्लुंड़ी (एक प्रकार का साँप) मनुष्य भव में स्त्री के रूप में उत्पन्न हुई और क्रमशः उसके ही गर्भ से दोनों भाइयों ने पुत्रों के रूप में जन्म लिया, परन्तु पूर्व वैर के संस्कारों से गर्भपात आदि कराके पुत्रों को मार डालने की इच्छा होती है और उत्पन्न होने के पश्चात् उनकी हत्या करने के लिए दासी को सौंपती है। उसके पिता वहाँ उनका पालन-पोषण कराते हैं। भिक्षार्थ आये मुनि को वह वैर का कारण पूछती है। पूर्व-वृत्तान्त सुनकर पिता विरक्त होकर दीक्षा ग्रहण करता है। दोनों भाई भी पिता के प्रति राग के कारण दीक्षा अंगीकार करते हैं। घोर तप, जप, क्रिया आदि करके वे निर्मल संयम का पालन करते हैं और संकल्प करते हैं कि— "यदि इस तप, नियम, संयम का कोई फल प्राप्त होता हो तो आगामी

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

भव में हम लोगों के मन और नेत्रों को आनन्द देने वाले बनें।" वहाँ से मृत्यु होने पर दोनों देव हुए, जहाँ से च्यव कर एक वासुदेव (कृष्ण) और दूसरा बलदेव हुआ। इस प्रकार अनुभूत संकट से भी किसी पुण्यात्मा को सामायिक प्राप्त होती है।

(९) अनुभूत उत्सव में भी किसी विरले को ग्वालिन की तरह सामायिक प्राप्त होती है।

(१०) किसी अन्य श्रेष्ठ ऋद्धि वाले को देखकर भी किसी विरले को दशार्णभद्र की तरह सामायिक प्राप्त होती है।

(११) सत्कार प्राप्त करने की अभिलाषा रखने पर भी जिसका सत्कार नहीं हुआ ऐसे इलापुत्र की तरह भव-वैराग्य होने से कोई सामायिक प्राप्त करता है।

इस प्रकार भिन्न-भिन्न निमित्तों से लघुकर्मी आत्मा को संसार की विचित्रता समझ में आने पर संवेग, निर्वेग आदि गुण पुष्ट होकर सामायिक धर्म की प्राप्ति होती है।

जिज्ञासुओं को आवश्यकनिर्युक्ति आदि ग्रन्थों से विशेष विवरण गुरुगम से ज्ञात कर लेना चाहिये। इस प्रकार अभ्युत्थान, विनय, पराक्रम और साधु-सेवा से भी सम्यग्-दर्शन, सम्यग्-ज्ञान, देशविरति अथवा सर्वविरति सामायिक प्राप्त होती है।

साधु भगवन्तों की सम्मानपूर्वक विनय एवं सेवा करने से विनीत जानकर वे धर्मोपदेश देने के लिए तत्पर होते हैं और धर्म श्रवण से वैराग्य उत्पन्न होने पर सामायिक प्राप्त होती है तथा क्रोध आदि कषायों पर विजयी होने के लिए पराक्रम करने से भी सामायिक प्राप्त होती है।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

६. सामायिक की स्थिति

उत्कृष्ट स्थिति—

(१) सम्यक्त्व एवं श्रुत सामायिक की उत्कृष्ट स्थिति पूर्व कोटि पृथक्त्व अधिक छासठ सागरोपम है, जो इस प्रकार है—

कोई जीव क्षयोपशम सम्यक्त्व प्राप्त करके दो बार विजय आदि अनुत्तर विमान में अथवा तीन बार अच्युत में जाकर फिर मोक्ष प्राप्ति करता है, उसे यह उत्कृष्ट स्थिति लागू हो सकती है।

(२) देशविरति एवं सर्वविरति सामायिक की उत्कृष्ट स्थिति देशोनपूर्वकोटीवर्ष अर्थात् कुछ न्यून एक कोटी पूर्व है। इस स्थिति से अधिक आयु वाले मनुष्य अथवा तिर्यंच दोनों (देशविरति अथवा सर्वविरति) सामायिक प्राप्त नहीं कर सकते।

जघन्य स्थिति—

(१) सम्यक्त्व, श्रुत एवं देशविरति सामायिक की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त है।

(२) सर्व-विरति सामायिक की जघन्य स्थिति एक समय की है जो इस प्रकार है— किसी जीव की सर्वविरति प्राप्त होने के पश्चात् ही आयु पूर्ण हो जाये तो समय मात्र स्थिति घट सकती है। **उपयोग की अपेक्षा से तो चारों सामायिक की स्थिति अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है।**

उपर्युक्त स्थितिमान लब्धि के अनुसार और एक जीव की अपेक्षा से कहा गया है। अनेक जीवों के आश्रित होकर तो समस्त सामायिक समस्त कालों में होती हैं। सामायिक का स्थितिमान के द्वारा चिन्तन करने से भी उसकी दुर्लभता का ज्ञान हमें सहज ही में हो जाता है।

अटवी में परिभ्रमण करता प्रत्येक जीवात्मा अनन्त पुद्गलपरावर्तन-काल के पश्चात् ही चरमपुद्गलपरावर्तन में प्रविष्ट होता है और तब उसे चरम-यथाप्रवृत्तिकरण (वैराग्य के तीव्र परिणाम) उत्पन्न होते हैं। तत्पश्चात् क्रमशः अपूर्वकरण के द्वारा ग्रन्थि-भेद होने पर सम्यक्त्व सामायिक और श्रुत सामायिक की प्राप्ति होती है।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

इन दोनों प्राप्त सामायिकों की छासठ सागरोपम प्रमाण जो उत्कृष्ट स्थिति ऊपर बताई गई है, वह संसारी जीव को लब्धि (सत्तागत) सामायिक पर निर्भर रहकर जाननी चाहिए। तात्पर्य यह है कि सामायिक अधिक से अधिक छासठ सागरोपम प्रमाणकाल तक ही स्थायी रह सकती है। तत्पश्चात् उक्त सामायिक अथवा तो मोक्ष प्रदान कराती है अथवा उसका पतन हो जाता है।

उपयोग की अपेक्षा से प्रत्येक सामायिक की अन्तर्मुहूर्त से अधिक स्थिति नहीं है और कम से कम स्थिति-मर्यादा आद्य तीन सामायिकों की अन्तर्मुहूर्त की एवं सर्वविरति की एक समय की ही बताई है।

इन समस्त बातों का विचार करने पर समझ में आयेगा कि विशुद्ध श्रद्धा एवं समता का परिणाम प्राप्त होना कितना दुर्लभ है और प्राप्त परिणाम स्थायी रखना कितना कठिन है ? अनन्त काल से लिपटी हुई यह राग-द्वेषरूप विभाव-दशा आत्मा की कैसी भयानक दुर्दशा करती है, कैसी विकटता करती है उसकी कथा तो अत्यन्त ही दयनीय एवं करुणापूर्ण है।

विभाव-दशा की कालिमा-युक्त अंधेरी रात में उलझा हुआ जीवात्मा अपने सच्चिदानन्द स्वरूप का भान भूलकर पर-पुद्गल पदार्थों एवं उनके संयोगों में 'अहं" एवं "मैं पन" लाकर अपने हाथों अपने प्रयत्न से ही वह परेशान हो रहा है।

अरे ! अन्तर् के कक्ष में दबा हुआ सुख, शान्ति एवं गुण सम्पत्ति का अपार भण्डार लुटा रहा है। इस पराधीन बनी पामर आत्मा को कौन समझाये कि—

तू अनन्त सुख-शक्ति का मुकुट-विहीन सम्राट है, और तेरा मान्य किया हुआ यह बाह्य संसार तुझे सुख-शान्ति प्रदान करने के लिए सर्वथा विवश है, असफल है।

सुख, शान्ति एवं आनन्द का अक्षयनिधि आत्मा के भीतर में ही अप्रकट रूप से विद्यमान है, जिसे प्रकट करने वाला केवल सामायिक धर्म ही है।

उक्त धर्म को सम्पूर्ण आराधना करके उसके वास्तविक फल का पूर्ण अधिकार प्राप्त करने वाला मानव ही है। मानव-जीवन का विशिष्ट महत्व अथवा मूल्यांकन आध्यात्मिकता के कारण ही है। संसार की

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

विलक्षण बाह्य सिद्धि-समृद्धि का स्वामी भी सामायिक आदि धर्म के बिना दरिद्र नारायण है।

सम्राट श्रेणिक पुनिया श्रावक की सामायिक क्रय करने के लिए अपनी सम्पूर्ण राज्य लक्ष्मी दाव पर लगाने के लिये तत्पर हो गये थे, परन्तु उस पुनिया के मन में सामायिक का मूल्य अपार था।

बाह्य सत्ता अथवा सम्पत्ति के लिये सामायिक का विक्रय असम्भव है, सर्वथा असम्भव है। सामायिक आन्तरिक जगत की अमूल्य सम्पत्ति है, जिसकी तुलना में तीनों लोकों की समृद्धि तुच्छ है।

मानव होकर जो सामायिक से वंचित रह जाता है, वह जन्म-जन्म की संचित पुण्य निधि को नष्ट करके भव-सागर की दुःखपूर्ण दीर्घ यात्रा करने वाला एक पुण्यहीन पथिक बन जाता है।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

७. सामायिकी व्यक्ति की संख्या आदि द्वार

सम्यक्त्व आदि सामायिक को प्राप्त करने वाले[1] प्राप्त किये हुए, प्राप्त करके पतित बने व्यक्ति विवक्षित समय में कितने होते हैं ? इस बात का निर्देश इस विभाग में किया जा रहा है ।

प्रश्न (१) प्रतिपत्ता—सामायिक प्राप्त करने वाले जीव विवक्षित समय में कितने होते हैं ?

उत्तर सम्यक्त्व एवं देशविरति वाले जीव "क्षेत्रपल्योपम के असंख्य भाग प्रमाण" होते हैं, अर्थात् क्षेत्रपल्योपम के असंख्यातवे भाग में जितने आकाश प्रदेश होते हैं उतनी ही संख्या में उत्कृष्ट से सम्यक्त्व एवं देश-विरति को प्राप्त करने वाले जीव एक समय में होते हैं। विशेषता यह है देशविरति की अपेक्षा सम्यक्त्व प्राप्त करने वाले असंख्य गुने अधिक होते हैं। जघन्य से एक अथवा दो होते हैं। श्रुत (सामान्य अक्षरात्मक) को प्राप्त करने वाले जीव घनीकृत लोक की—समचतुरस्र किये गये लोक की—एक प्रदेशी सप्तराज प्रमाण श्रेणी के असंख्यातवे भाग में जितने प्रदेश होते हैं उतने प्रमाण में उत्कृष्ट से होते हैं। जघन्य से एक अथवा दो होते हैं। सर्वविरति सामायिक को प्राप्त करने वाले जीव उत्कृष्ट से सहस्रपृथक्त्व (दो से नौ हजार) होते हैं। जघन्य से एक अथवा दो होते हैं।

प्रश्न (२) पूर्वप्रतिपन्न—सामायिक प्राप्त किये हुए—जीव विवक्षित समय पर कितने होते हैं ?

उत्तर—सम्यक्त्व एवं देशविरति प्राप्त जीव वर्तमान समय में उत्कृष्ट से और जघन्य से असंख्य होते हैं, परन्तु जघन्य की अपेक्षा उत्कृष्ट में विशेषाधिक एवं प्रतिपद्यमान की अपेक्षा असंख्य गुने होते हैं। सर्वविरति चारित्र को प्राप्त, वर्तमान समय में जघन्य से और उत्कृष्ट से संख्याता होते

---

१ निम्न शब्दों के अर्थ समझ लेने से पठन में सरलता होगी—
"प्रतिपत्ता"—प्राप्त करने वाला; "प्रतिपन्न"—प्राप्त किया हुआ; "पतित"—प्राप्त करके पीछे हटे हुए।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

हैं (और इस स्व-स्थान में प्रतिपद्यमान की अपेक्षा संख्यात गुने होते हैं)। श्रुत (सामान्य अक्षरात्मक) के पूर्वप्रतिपन्न जीव वर्तमान समय में—असंख्याता प्रतर के असंख्य भाग मे स्थित असंख्य श्रेणियों में जितने प्रदेश होते हैं उतने प्रमाण वाले होते हैं। जघन्य से उत्कृष्ट असंख्य गुने होते हैं।

प्रश्न (३) पूर्व पतित—सामायिक प्राप्त करके पतित हो चुके—विवक्षित समय में कितने होते हैं ?

उत्तर—सम्यक्त्व, देशविरति एवं सर्वविरति की अपेक्षा उन गुणों को प्राप्त करके पतित हुए जोव अनन्त गुने होते हैं। श्रुत (सामान्य अक्षरात्मक) को प्राप्त एवं प्राप्त करने वालों की अपेक्षा शेष समस्त संसारी जीव सामान्य श्रुत से प्रतिपतित कहलाते हैं; क्योंकि इन प्रतिपतित जीवों ने अनादिकालीन इस संसार में परिभ्रमण करने से पूर्व अनेक बार भाषालब्धि को प्राप्त की हुई होती है।

तीनों प्रकार के सामायिक वाले जीवों का अल्प-आधिक्य—

सर्वविरति सामायिक को प्राप्त करने वाले सबसे कम होते हैं। इनकी अपेक्षा सर्वविरति प्राप्त किये हुए संख्यात गुने होते हैं।

देशविरति सामायिक को प्राप्त करने वाले जीव सर्वविरति प्राप्त करने वालों की अपेक्षा असंख्य गुने होते हैं और उनकी अपेक्षा देशविरति को प्राप्त किये हुए असंख्य गुने होते हैं।

सम्यक्त्व सामायिक को प्राप्त करने वाले जीव देशविरति को प्राप्त करने वालों की अपेक्षा असंख्य गुने होते हैं। इनकी अपेक्षा सम्यक्त्व को प्राप्त किये हुए जीव असंख्य गुने होते हैं।

सामान्य श्रुत को प्राप्त करने वाले जीव सम्यक्त्व, देशविरति इन दोनों के प्रतिपद्यमान की अपेक्षा असंख्य गुने होते हैं और इनकी अपेक्षा सामान्य श्रुत को प्राप्त किये हुए जीव असंख्य गुने होते हैं।

सामायिकी जीवों की जघन्य-उत्कृष्ट संख्या की विशेषता—

ये पतित जीव स्व-स्थान में जघन्य पद से उत्कृष्ट पद में विशेष अधिक संख्या में होते हैं। पूर्वप्रतिपन्न में स्व-स्थान में जघन्य पद से उत्कृष्ट पद में विशेष अधिक संख्या में होते हैं। प्रतिपद्यमान में आद्य तीन सामायिक स्व-स्थान में जघन्य से उत्कृष्ट पद में असंख्य गुनी होती हैं और सर्व विरति सामायिक स्वस्थान में जघन्य से उत्कृष्ट पद में संख्यात गुनी होती हैं। प्रस्तुत द्वार में सामायिक को प्राप्त करने वालों, प्राप्त किये हुओं और

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

प्राप्त करके पतित हुए जीवों की विपुल संख्या का निर्देश करके शास्त्रकार महर्षि हमें गर्भित रूप से बता रहे हैं कि यह सामायिक जितनी व्यापक है, उतनी ही यह दुष्प्राप्य भी है और प्राप्त की हुई सामायिक को निरन्तर स्थायी रखना तो अत्यन्त ही दुष्कर कार्य है। सामायिक को प्राप्त करने वाले और प्राप्त किये हुए जीवों की अपेक्षा सामायिक से पतित हो चुके जीवों की अनन्त संख्या ही इस बात को सिद्ध करती है।

समस्त सामायिकों में सर्वविरति सामायिक विशुद्धतर है। आत्म-समाधि-स्वरूप इस सामायिक को ग्रहण करने वाले जीवों की सख्या अत्यन्त ही अल्प है। सर्वस्व त्याग स्वरूप प्रव्रज्या के पुनीत पथ पर प्रयाण करके पूर्ण आत्म-समाधि का अनुभव करने का भव्यातिभव्य पुरुषार्थ केवल मानव हो कर सकता है। मनुष्य सदा संख्याता ही होते हैं; उनमें भी "चारित्र-रत्न" प्राप्त करने का परम सौभाग्य किसी विरले पुण्यात्मा के ही भाग्य में लिखा होता है। समस्त सावद्य-पाप व्यापारों का सर्वथा त्याग करने वाले, जीवमात्र को आत्मवत् देखने वाले और परम समता रस के सुधा-पान में ही सदा मग्न रहने वाले महापुरुष ही अपने जीवन में पूर्ण चारित्र धर्म का साक्षात्कार करके अनेक व्यक्तियों के आदर्श बनते हैं।

देशविरति सामायिक की प्राप्ति तिर्यंच भव में भी होती होने से उसे प्राप्त करने वाले जीव असंख्य होते हैं और सम्यक्त्व एवं श्रुत सामायिक को चारों गतियों के जीव प्राप्त कर सकते हैं। इस कारण इसके अधिकारी जीव सबकी अपेक्षा विशेष संख्या में होते हैं।

अक्षरात्मक सामान्य श्रुत दोइन्द्रिय आदि मिथ्यादृष्टि जीवों में भी होते हैं। उसकी चेतना शक्ति सर्वथा अविकसित स्वरूप में है, फिर भी परम ज्ञानी महापुरुषों ने उन्हें भी सामायिक के विशाल दृष्टि-बिन्दु में समाविष्ट कर लिया है। इसके पीछे भी कुछ रहस्य छिपा हुआ है।

भाषा-लब्धि एवं अक्षरात्मक श्रुत के बिना एक भी सामायिक को प्रकट करना सम्भव नहीं है। यह रहस्य उपर्युक्त बात से ज्ञात किया जा सकता है।

अनादि निगोद अवस्था में से बाहर निकले जीवों को दोइन्द्रियत्व में भाषालब्धि और अक्षरात्मक श्रुत की सर्वप्रथम प्राप्ति होती है। तत्पश्चात् क्रमशः उनका विकास होते-होते जब संज्ञी पंचेन्द्रियत्व प्राप्त होता है तब उक्त अक्षरात्मक श्रुत ही किसी भव्यात्मा के लिये भाव-श्रुत की प्राप्ति का प्रेरक निमित्त बन जाता है।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

इस विशाल दृष्टि से ही ज्ञानी भगवन्तों ने पूर्व प्राप्त सामान्य श्रुत की विवक्षा करके अक्षरात्मक-श्रुत को भी महत्वपूर्ण स्थान दिया प्रतीत होता है।

एक-एक से विशिष्ट, विशिष्टतर समाधिस्वरूप इन चारों सामायिकों को प्राप्त कर चुके व्यक्ति भी बहुत अधिक संख्या में कर्म की प्रबलता आदि के कारण समाधि के उच्च शिखर से गिरकर असमाधि की गहरी खाई में जा गिरते हैं। सामायिक प्राप्त करने वालों और प्राप्त कर चुके व्यक्तियों से सामायिक के भ्रष्ट व्यक्तियों की संख्या अधिक क्यों है? यह प्रश्न ही सहज समताभाव की दुर्लभता एवं दुष्प्राप्यता को तथा विभाव-जनित ममता-भाव की दुष्टता एवं दारुणता को स्पष्ट कर देता है।

कितनी दुर्लभ है आत्मसमाधिस्वरूप सामायिक धर्म की प्राप्ति? और कितनी दुःसाध्य है प्राप्त सामायिक की स्थिरता एवं वृद्धि? जीवन के अन्तिम क्षण तक निरन्तर चलता चारित्रधर्म का सुविशुद्ध भाव जन्मान्तर में साथ नहीं आ सकता। अप्रमत्त मुनि को भी अन्य भव में जाने के समय चारित्रधर्म का वियोग अवश्यमेव सहना पड़ता है।

सम्यक्त्व एवं श्रुत सामायिक की भी उत्कृष्ट स्थिति कुछ अधिक छासठ सागरोपम की है। इस समय के अन्तर्गत यदि आत्मा की मुक्ति नहीं हुई तो उक्त सामायिक भाव भी समाप्त हो जाता है। सामान्य श्रुत की भी अधिक से अधिक स्थिति दो हजार सागरोपम की है। तत्पश्चात् वह भी अवश्य ही समाप्त हो जाती है।

इन सब असंख्य एवं अनन्त सामायिक से परिभ्रष्ट हुए जीवों का निवास और उत्कृष्ट अर्द्धपुद्गल परावर्तन जितने दीर्घकाल का निर्गमन प्रायः निगोद अवस्था में होता है। इसके अतिरिक्त इन संख्यातीत जीवों का निवास अन्य किसी "काया" में होना सम्भव नहीं है।

कर्म की अकल गति, स्थिति एवं मति का यह प्रत्यक्ष चित्रण सुनकर जिस मुमुक्षु की आत्मा चीत्कार कर उठती है वह तो पल भर भी प्रमाद किये बिना निरन्तर सावधानी एवं जागृति से सम्पूर्ण सामायिक भाव को यथावत् रखने के लिये पुरुषार्थ करती रहती है।

सच्चिदानन्द स्वरूप आत्मा की सहज अवस्था प्राप्त नहीं हो तब तक सामायिक धर्म की वसमी विरह-वेदना के शिकार न हो जायें उसी चरम एवं परम लक्ष्य को दृष्टिगत रखकर मुमुक्षु साधक आत्म-साधना के पथ पर एक ही सांस में तनिक न रुककर अग्रसर होता ही रहता है।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

सामायिक के भ्रष्ट जीव पुनः कितने समय में सामायिक प्राप्त कर सकते हैं ? आदि बातों पर आगामी द्वारों में प्रकाश डाला जायेगा।

सान्तर द्वार—जीव एक बार सम्यक्त्व आदि प्राप्त करके उससे च्युत होने पर पुनः जितने समय में सम्यक्त्व आदि प्राप्त करता है, उस मध्य काल को "अन्तर" कहते हैं। सामान्य अक्षरात्मक मिथ्याश्रुत का जघन्य से अन्तर्मुहूर्त का एवं उत्कृष्ट से अनन्त काल का "अन्तर" होता है।

जो दोइन्द्रिय आदि जीव श्रुत (अक्षरात्मक) प्राप्त करके मृत्यु के पश्चात् पृथ्वी आदि में उत्पन्न होकर केवल अन्तर्मुहूर्त काल तक रहकर पुनः दोइन्द्रियों में आये और श्रुत को प्राप्त करे उस पर यह जघन्य अन्तर लागू होता है।

उत्कृष्ट अन्तर—कुछ दोइन्द्रिय जीव मृत्यु के पश्चात् पाँचों स्थावर में पुनः पुनः जन्म-मरण करते रहें तो उन्हें अनन्त काल के पश्चात् दोइन्द्रिय आदि में उत्पन्न होने पर पुनः श्रुत की प्राप्ति होती है।

शेष सम्यक्त्व, देशविरति एवं सर्वविरति सामायिक में जघन्य से अन्तर्मुहूर्त एवं उत्कृष्ट से देशोन अर्द्धपुद्गल परावर्तन काल "अन्तर" होता है।

यह "अन्तर" मर्यादा एक जीव की अपेक्षा से समझनी चाहिए। समस्त जीवों के अनुसार तो "अन्तर" है ही नहीं।

जो व्यक्ति सम्यक्त्व आदि प्राप्त करके अन्तर्मुहूर्त के पश्चात् तथाविध विशुद्ध परिणाम से पतित होकर पुनः अन्तर्मुहूर्त में ही उस प्रकार का परिणाम प्राप्त कर लें उन पर यह जघन्य अन्तर घटित हो सकता है।

कोई बहुलकर्मी जीव सम्यक्त्व आदि प्राप्त करके भी तीर्थंकर, प्रवचन, श्रुत, आचार्य अथवा गणधर आदि महापुरुषों की घोर आशातना करके सम्यक्त्व आदि से भ्रष्ट होता है और अधिकतर भव-भ्रमण करके अपार्ध-पुद्गलपरावर्तन काल के पश्चात पुनः सम्यक्त्व आदि प्राप्त करता है। ऐसे जीवों की अपेक्षा से यह उत्कृष्ट अन्तर घटित किया जा सकता है।

अविरह द्वार—समस्त लोक में सामायिक की निरन्तर प्राप्ति कितने समय तक हो सकती है—यह बात प्रस्तुत द्वार में बताई जाती है।

सम्यक्त्व, श्रुत और देशविरति सामायिक को प्राप्त करने वाले उत्कृष्ट से आवलिका के असंख्य भाग-प्रमाण समय तक सतत होते हैं। तत्पश्चात् अवश्य विरह (अन्तर) होता है।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

सर्वविरति सामायिक की प्रतिपत्ति (प्राप्ति) आठ समय तक निरन्तर हो सकती है। तत्पश्चात् सर्वत्र विरह होता है।

विरह-काल—समस्त लोक में कोई भी जीव नवीन सामायिक कितने समय तक प्राप्त नहीं करता, वही यहाँ स्पष्ट किया गया है।

सम्यक्त्व, श्रुत सामायिक का उत्कृष्ट विरह-काल सात अहोरात्रि है, तत्पश्चात् कोई जीव अवश्य सामायिक प्राप्त करता है।

देशविरति सामायिक का उत्कृष्ट विरह काल बारह अहोरात्रि है, तत्पश्चात् कोई जीव अवश्य सामायिक प्राप्त करता है। सर्वविरति सामायिक का उत्कृष्ट विरह काल पन्द्रह अहोरात्र है, तत्पश्चात् कोई जीव अवश्य सामायिक प्राप्त करता है।

भव द्वार—इस द्वार में कितने भव तक सामायिक प्राप्त हो सकती है—यह बताया जाता है।

सम्यक्त्व एवं देशविरति सामायिक को एक जीव समस्त भव-चक्र में उत्कृष्ट से असंख्य भव (अर्थात् क्षेत्रपल्योपम के असंख्यातवें भाग में जितने प्रदेश हों उतने भव) तक प्राप्त कर सकता है और जघन्य से एक भव के पश्चात् मोक्ष होता है।

सर्वविरति सामायिक को उत्कृष्ट से आठ भव तक प्राप्त करता है और जघन्य से एक भव पश्चात् मुक्ति।

सामान्य श्रुत को अनन्त भवों तक प्राप्त कर सकता है। जघन्य से मरुदेवी माता की तरह एक भव के पश्चात् मुक्ति।

आकर्ष द्वार—आकर्ष अर्थात् सम्यक्त्व आदि सामायिक को सर्वप्रथम आकर्षित करना, अर्थात् प्राप्त करना; अथवा चली गई सम्यक्त्व आदि सामायिक को पुनः ग्रहण करना—प्राप्त करना।

(१) प्रथम तीन सामायिकों का आकर्ष एक भव में दो से नौ सौ बार हो सकता है।

यह उत्कृष्ट की बात हुई। जघन्य से प्रत्येक सामायिक का एक ही आकर्ष होता है। छोटे-छोटे भवों की अपेक्षा से तो सम्यक्त्व और देशविरति सामायिक में आकर्ष उत्कृष्ट से दो से नौ हजार असंख्याता बार होता है। चारित्र का आकर्ष उत्कृष्ट से दो से नौ हजार बार, सामान्य श्रुत के अनन्त "आकर्ष" होते हैं।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

आकर्ष द्वार पर विवेचन —

आकर्ष की दोनों व्याख्याओं की अनुप्रेक्षा करते हुए समझा जा सकता है कि "आकर्ष" आत्मा की एक महान् निर्मल ध्यान-शक्ति का सूचक शब्द है। जिस शक्ति के प्रभाव से आत्मा सर्वप्रथम "सम्यक्त्व" प्राप्त करती है, उस ध्यानस्वरूप "अपूर्वकरण" आदि प्रक्रिया का वर्णन पहले हो चुका है। उसके द्वारा स्पष्ट समझा जा सकता है कि जो जीव क्षायिक भाव का सम्यक्त्व प्राप्त करते हैं, उन्हें यदि दो भव करने शेष हों तो भी पुनः सम्यक्त्व के लिये एक भी "आकर्ष" करना नहीं पड़ता। चारित्र के लिये तो "आकर्ष" करने पड़ते हैं, परन्तु जो जीव क्षायोपशमिक अथवा उपशम भाव का सम्यक्त्व प्राप्त करते हैं, वे जीव एक भव में जघन्य से एक बार और उत्कृष्ट से चारित्र के लिये एक सौ से नौ सौ बार और शेष तीन सामायिकों के लिये दो से नौ हजार बार "आकर्ष" कर सकते हैं, प्राप्त किया हुआ चारित्र अथवा सम्यक्त्व किसी अशुभ निमित्त के कारण चारित्र-मोह अथवा मिथ्यात्वमोहनीय आदि का उदय होने पर पुनः चला जाता है, परन्तु लघुकर्मी जीव शुभ आलम्बन प्राप्त होने पर शुभ ध्यानारूढ़ होकर पुनः उस सम्यक्त्व अथवा चारित्र गुण को आकर्षित (प्राप्त) करता है।

जिस प्रकार हाथ में से कोई काँच आदि की बहुमूल्य वस्तु गिर पड़ती है, तब उसका महत्व समझने वाला व्यक्ति उस वस्तु के नीचे गिरकर टूट-फूट जाने से पूर्व अत्यन्त शीघ्रता से नीचे झुककर उस वस्तु को शीघ्र पकड़ने की चेष्टा करता है, उसी प्रकार से प्रबल मोह आदि के उदय से आत्म-सम्पत्ति रूप सामायिक (रत्न) लुट जाने पर उसके महान् फल के स्वाद को नहीं भूल सकने वाली आत्मा सद्गुरु के उपदेश आदि के आलम्बन से ध्यान आदि में प्रबल पुरुषार्थ करके लुटी हुई गुण-सम्पत्ति को तत्काल पुनः प्राप्त करती है।

इस प्रकार 'आकर्ष' सम्यक्त्व गुण को आकर्षित करने के अर्थात् अब तक अनुपलब्ध निश्चयसम्यक्त्व गुण को प्राप्त करने के लिये जीव को प्रोत्साहित करता है; अथवा प्राप्त होने के पश्चात् गये हुए सम्यक्त्व को पुनः प्राप्त करने के लिये तद्योग्य साधना प्रबल पुरुषार्थ करने के लिये प्रेरित करता है।

जिस प्रकार स्वार्थी मनुष्य अन्य मनुष्यों को अपनी ओर आकर्षित करने के लिये प्रयत्न करते हैं, उसी प्रकार से मुमुक्षु व्यक्ति को अपनी ज्ञान-ध्यानस्वरूप आन्तरिक साधना को ऐसी आकर्षक अर्थात् विशुद्ध बनानी चाहिए कि जिससे सम्यक्त्व आदि गुण स्वयं आकर्षित होकर चले आयें।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

स्पर्शना द्वार—इसमें बताया गया है कि सामायिक-वान् जीव कितने क्षेत्र का स्पर्श कर सकते हैं। सम्यक्त्व और चारित्रवान् जीव उत्कृष्ट से समग्र लोक का स्पर्श करते हैं, जघन्य से लोक के असंख्यातवे भाग का स्पर्श करते हैं।

उपर्युक्त उत्कृष्ट स्पर्शना "केवली समुद्घात" के समय होती है। आठ समय की समुद्घात की प्रक्रिया में चौथे समय केवली भगवान आकाश के प्रत्येक प्रदेश में आत्मा का एक एक प्रदेश जमाकर सर्वलोकव्यापी बनते हैं, उस अपेक्षा से यह बात कही गई है।

श्रुत सामायिक की स्पर्शना उत्कृष्ट से सात राज अथवा पाँच राज और जघन्य से लोक का असंख्यातवाँ भाग है। देशविरति सामायिक की स्पर्शना उत्कृष्ट से पाँच राज अथवा दो राज और जघन्य से लोक का असंख्यातवाँ भाग है जैसे—

कोई श्रुत ज्ञानी तपस्वी मुनि इलिका गति से अनुत्तर विमान में उत्पन्न हो रहे हों तब वे यहाँ से सात राज तक ऊर्ध्व लोक की स्पर्शना करते हैं।

कोई देशविरति इलिका गति से अच्युत देवलोक में उत्पन्न हो तो पाँच राज, अथवा दो राज तक ऊर्ध्वलोक की स्पर्शना करते हैं।

देशविरति जीव अधोलोक में नहीं जाते।

क्षेत्र से सम्बन्धित स्पर्शना समाप्त हो गई। अब भाव से सम्बन्धित स्पर्शना का वर्णन करते हैं।

भाव-स्पर्शना—सामान्य श्रुत की स्पर्शना समस्त संव्यवहार राशि वाले जीवों द्वारा की गई है।

सम्यक्त्व एवं चारित्र की स्पर्शना समस्त सिद्धों के जीवों ने की हुई है।

देशविरति सामायिक की स्पर्शना सिद्ध होने से पूर्व समस्त सिद्धों के असंख्यातवे भाग प्रमाण जीवों ने की हुई है।

विवेचन—संसारी एवं सिद्ध दो भेदों में समस्त जीवों का समावेश हो जाता है। संसार के जीव "संसारी" और सिद्धशिला पर विराजमान जीव "सिद्ध" कहलाते हैं। सिद्ध जीवों में किसी भी प्रकार की भिन्नता नहीं होती, जबकि संसारी जीवों में अनेक भेद-उपभेद होते हैं, जैसे—

(१) संव्यवहार राशि वाले और (२) असंव्यवहार राशि वाले। ये

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

दो भेद संसारस्थ जीवों के हैं। अनादि निगोद में से कदापि बाहर नहीं आये हुए जीव "असंव्यवहार राशि वाले" कहलाते हैं और जो जीव निगोद से बाहर निकलकर व्यवहार—पृथ्वी, जल आदि अथवा दोइन्द्रिय आदि भाव को पाये हुए हैं वे "संव्यवहारराशि वाले" कहलाते हैं। ये राशि वाले समस्त जीव अक्षरात्मक सामान्य श्रुत को स्पर्श किये हुए होते हैं। दो इन्द्रियत्व आदि में सामान्य श्रुत का सद्भाव होता है।

सिद्ध भाव प्राप्त किये हुए समस्त जीव सम्यक्त्व एवं चारित्र को स्पर्श किये हुए होते हैं। उसके बिना सिद्धत्व प्रकट ही नहीं होता।

अनेक जीव देशविरति सामायिक प्राप्त किये बिना भी मरुदेवी माता की तरह सीधे ही मोक्ष में जाते हैं, जिससे समस्त सिद्धों के एक असंख्यातवे भाग जितने जीवों ने उसका स्पर्श नहीं किया। समस्त शेष सिद्ध जीव देशविरति को स्पर्श करके मोक्ष गये हैं। सम्यक्त्व आदि सामायिक जीव के पर्याय होने से भाव हैं, इस कारण उसकी स्पर्शना "भाव-स्पर्शना" कहलाती है।

इस स्पर्शना द्वार में बताई हुई बातों पर सूक्ष्म चिन्तन करने से साधक को साधना में उपयोगी सुन्दर चिन्तन सामग्री प्राप्त हो सकती है।

क्षेत्र स्पर्शना में बताई गई केवली समुद्घात की प्रक्रिया का प्रयोग भूतकाल में अनन्त सिद्ध परमात्माओं ने सिद्ध होने से पूर्व अपने जीवन के उत्तर काल में किया है। उनके पवित्र आत्म-क्षेत्र में रहकर मैं उन सिद्ध परमात्मा के ध्यान से अपनी अन्तरात्मा को पवित्र कर रहा हूँ, तथा वर्तमान काल में महाविदेह क्षेत्र में विद्यमान केवली-भगवान् सिद्ध अवस्था प्राप्त करने से पूर्व इस समुद्घात की प्रक्रिया के द्वारा जब अपने निर्मल आत्म प्रदेशों को विश्वव्यापी बना रहे होंगे, तब उन पवित्रतम आत्म-प्रदेशों का पुनीत स्पर्श मेरी आत्मा के प्रत्येक प्रदेश से भी अवश्य होता ही होगा।

पवित्रतापूर्ण पुद्गलों की स्पर्शना का वह पल-विपल कितना अद्भुत एवं धन्यतम होगा।

क्षेत्र-स्पर्शना का प्रभाव इस कलियुग में भी प्रत्यक्ष रूप से देखने-जानने को मिलता है। "कांकरे कांकरे सिद्ध अनन्ता" आदि विशेषताओं के कारण जिस तीर्थ की अन्य समस्त तीर्थों की अपेक्षा अधिक महिमा शास्त्रों में गाई गई है, उस सिद्धगिरि की यात्रा करते हुए अनेक भाविक यात्री भूतकालीन अनन्त सिद्धात्माओं के पुण्य स्पर्श से पवित्र बने इस तीर्थ

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

के एक-एक रजकण से पवित्रता की प्रेरणा प्राप्त करके अपनी आत्मा को कृतकृत्य करते हैं, अपूर्व भावोल्लासपूर्ण हृदय से यात्रा, पूजा, भक्ति करके अपना जीवन धन्य करते हैं।

इसी प्रकार से "भाव स्पर्शना" के सम्बन्ध में विचार करने से सुविशुद्ध भाव जागृत करने की अपूर्व प्रेरणा प्राप्त की जा सकती है, जैसे—

मैं जिस अक्षरात्मक श्रुत का अध्ययन, मनन, चिन्तन करता हूँ, उस "श्रुत" का मेरे अनन्त आत्म-बन्धु स्पर्श कर चुके हैं तथा जिस सम्यक्त्व, देशविरति और सामायिक धर्म की आराधनार्थ मैं उत्कंठित हुआ हूँ, उस सामायिक धर्म की आराधना तो अनन्त सिद्ध भगवानों ने अपने पूर्व-जीवनों में अनेक बार की है। इतना ही नहीं, परन्तु अनन्त आत्माओं को सिद्धि का सनातन सुख प्रदान करने वाला यह सामायिक धर्म ही है।

भूतकाल में, वर्तमानकाल में और भविष्यत्काल में जो आत्मा पंचपरमेष्ठी पद पर आसीन हुए हैं, हो रहे हैं और होने वाले हैं, वह सब प्रभाव-प्रताप इस सामायिक धर्म का ही है।

ऐसे महान प्रभावशाली, सर्व सिद्धिदायक सामायिक धर्म की मंगल आराधना करने के लिए यह कैसा उत्तम अवसर प्राप्त हुआ है।

अनन्त सिद्ध आत्माओं द्वारा स्पर्श किये गये इस सामायिक धर्म की आराधना करके उसे मैं अपनी आत्मा के प्रत्येक प्रदेश में इतना आत्मसात् कर लूँ कि जिससे मेरी आत्मा भी परम पवित्र, प्रसन्नचित्त एवं प्रशान्त बनी रहे। ऐसी-ऐसी उत्तम प्रकार की भावनाओं के द्वारा साधक अपनी साधना को प्राणवान बनाकर उसमें अधिकाधिक स्थिरता एवं तन्मयता प्राप्त कर सकता है।

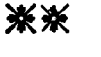

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

८. निरुक्ति द्वार

क्रिया, कारक के भेद से और पर्याय से शब्दार्थ का कथन "निरुक्ति" कहलाता है। यहाँ चारों प्रकार के "सामायिक" के पर्यायवाची नाम दिये गये हैं, जिसके अर्थ ज्ञात होने से "सामायिक" का विशेष महत्व सरलता से समझा जा सकेगा।

(१) सम्यक्त्व सामायिक के नाम—

सम्यग्दृष्टि, अमोह, शुद्धि, सद्भाव-दर्शन, बोधि, अविपर्यय, सुदृष्टि आदि।

(१) सम्यग्दृष्टि—अविपरीत दर्शन, आत्मा को चेतन स्वरूप में और जड़ को अचेतन स्वरूप में देखना-जानना।

(२) अमोह—मोह वितथाग्रह, जिसमें असत्य का आग्रह न हो वह अमोह है।

(३) शुद्धि—मिथ्यात्व रूपी मैल का नाश होने पर प्रकट होती शुद्धि।

(४) सद्भाव दर्शन—सर्वज्ञ कथित पदार्थों का ज्ञान।

(५) बोधि—परमार्थ-बोध।

(६) अविपर्यय—अतत्व में तत्वबुद्धि विपर्यय है, इसका अभाव वह अविपर्यय अर्थात् तत्व अध्यवसाय।

(७) सुदृष्टि—शुभ दृष्टि।

विशेष—सम्यग्दृष्टि वाली आत्मा जो कुछ देखे अथवा जाने, उसमें तनिक भी विपरीतता नहीं होती। आत्मा समस्त पदार्थों को सत्य स्वरूप में ही देखती है, जिससे देह आदि भौतिक पदार्थों में उसे कदापि "अहं" अथवा "मैं पन" की भावना नहीं होती। अपनी बात का अथवा अपने विचारों का उसे असद् आग्रह नहीं होता। मोह की मलिनता दूर हो जाने से उसका अन्तःकरण स्फटिक के समान स्वच्छ होता है। उसकी आत्म-शुद्धि भी क्रमशः विकसित होती जाती है, जिससे जिनागम के सूक्ष्म रहस्यों का

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

बोध और अनुभव स्पष्ट होता जाता है, केवली भगवान के वचनों के प्रति श्रद्धा सुदृढ़ होती जाती है, आत्मा और परमात्मा के मध्य भेद-अभेद का स्याद्वाद दृष्टि से बोध होता है और आत्म-तत्त्व का विशुद्ध अनुभव प्रकट होता जाता है। तत्त्वानुभूति होने पर विपर्यास-बुद्धि का चिन्ह तक नहीं रहता, जिससे अतत्त्व में तत्त्वबुद्धि अथवा तत्त्व में अतत्त्वबुद्धि उत्पन्न होती है और जिसकी बुद्धि अविपरीत होती है उसकी दृष्टि शुभ (सत्) होती है, उसकी विचारधारा भी शुभ होती है।

(२) श्रुत सामायिक के पर्यायवाची नाम –

अक्षर, अनक्षर, संज्ञी, असंज्ञी, सम्यग्, मिथ्या, सादि, अनादि, सपर्यवसित, अपर्यवसित, गमिक, अगमिक, अंग प्रविष्ट, अनंग-प्रविष्ट। इस प्रकार श्रुत ज्ञान के १४ भेदों का पर्यायवाची नामों के रूप में उल्लेख किया गया है। इनके अर्थ "कर्मग्रन्थ" आदि ग्रन्थों से ज्ञान कर लें।

(३) देशविरति सामायिक की निरुक्ति—

विरताविरति, संवृतासंवृत, बाल-पण्डित, देशैकदेशविरति, अणुधर्म और आगारधर्म=ये समस्त देशविरति के पर्यायवाची शब्द हैं।

(१) विरताविरति– जिस निवृत्ति में अमुक पाप की विरति और अमुक पाप की अविरति होती है वह।

(२) संवृतासंवृत—जिस सामायिक में कुछ सावद्य योगों का त्याग और कुछ का त्याग नहीं होता वह।

(३) बाल-पण्डित—विरति एवं अविरति रूप उभय व्यवहार का अनुकरण करने वाला होने से वह "बाल-पण्डित" कहलाता है।

(४) देश-एकदेशविरति – देश -- स्थूल प्राणातिपात आदि। एकदेश—वृक्ष छेदन आदि, उन दोनों की विरति जो नियम में हो वह।

(५) अणुधर्म—सम्पूर्ण साधु धर्म की अपेक्षा से धर्मन्यून (अल्प) प्रमाण में धर्म होने से "अणुधर्म" कहलाता है।

सम्यक्त्व सामायिक में जिनोक्त धर्म के प्रति प्रबल श्रद्धा मात्र थी। यहाँ धर्म का आंशिक आचरण भी है। श्रद्धा के साथ आचरण के मिश्रण से यहाँ पूर्व की समता की अपेक्षा विशेष प्रकार की समता होती है। उक्त समता के प्रकर्ष की उत्तरोत्तर वृद्धि होने पर सर्वविरति सामायिक भाव प्रकट होता है।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

(४) सर्वविरति सामायिक के पर्यायवाची नाम—

सामायिक, सामयिक, सम्यग्वाद, समास, संक्षेप, अनवद्य, परिज्ञा और प्रत्याख्यान—ये "सर्वविरति" के समानार्थक नाम हैं।

(१) सामायिक—सम—रागद्वेषरहित होने से मध्यस्थ; सम की प्राप्ति वह समाय; वही सामायिक है। अर्थात् राग-द्वेषरहित अवस्था—समता; मध्यस्थ भाव अथवा प्रशम भाव की प्राप्ति होना "सामायिक" है।

(२) सामयिक - सम सम्यक् अय-प्राप्ति; जिसमें सम्यग्दयापूर्वक (मैत्री भावपूर्वक) समस्त जीवों के प्रति व्यवहार हो वह "सामयिक" है।

(३) सम्यग्वाद—राग-द्वेषरहित मध्यस्थ भाव से यथार्थ कथन "सम्यग्वाद" है।

(४) समास—संसार में से जीव को अथवा जीव में से कर्म को बाहर निकालना (पृथक करना) अथवा जो समता का स्थान होता है वह 'समास' कहलाता है।

(५) संक्षेप - महान् अर्थयुक्त फिर भी अल्पाक्षरी, अतः वह संक्षेप कहलाती है।

(६) अनवद्य—पाप रहित हो वह 'अनवद्य'।

(७) परिज्ञा—पाप का त्याग करने के लिये हेय-उपादेय वस्तु का ज्ञान प्राप्त करना वह "परिज्ञा" है।

(८) प्रत्याख्यान—त्याज्य वस्तु का गुरु-साक्षी से निवृत्ति-कथन।

विशेष—सामायिक एकान्त से प्रशम की प्राप्ति स्वरूप है। शम-प्रशम समाधि स्वरूप है। कहा भी है कि विकल्प विषय से रहित, आत्म-स्वभाव के आलम्बन वाली ज्ञान की परिपक्व अवस्था "शम" है। ऐसे शमरस में तन्मयता होना सामायिक है और वह मानसिक समता स्वरूप है, जिससे सिद्ध होता है कि "सामायिक" परम समाधि-स्वरूप है, और इसकी प्राप्ति समस्त जीव-विषयक दया (मैत्री) के पालन से ही हो सकती है, इसके अतिरिक्त नहीं। जिसमें ऐसा प्रवर्तन हो उसे "सामायिक" कहते हैं। इस व्याख्या से कायिक समता का निर्देश दिया गया है। जिनवचन का मध्य-स्थता से उपदेश सम्यग्वाद, है, वचन-क्रिया रूप सामायिक वाचिक समता को सूचित करती है।

इस प्रकार तीनों योगों की समतापूर्वक प्रवृत्ति सामायिक है।

केवल चार अक्षरों में अनेक गम्भीर अर्थ समाविष्ट होने से सामा-

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

यिक को 'समास' कहा जा सकता है, तथा चौदह पूर्व अथवा समस्त द्वादशांगी का पिण्डित अर्थ सामायिक में संगृहीत होने से इसे "संक्षेप" भी कहा जाता है।

सम्यग्ज्ञान के बिना समता प्राप्त नहीं होती, यह बताने के लिये ही यहाँ "समास एवं संक्षेप" इन दो नामों के द्वारा बताया गया है कि सामायिक श्रुत ज्ञान स्वरूप है, इसमें समस्त द्वादशांगी के महान् गम्भीर भाव भरे हुए हैं।

सामायिक समस्त पाप व्यापार के परिहार से प्राप्त होती है। जब तक जीवन में एक पाप-कार्य भी चल रहा हो, तब तक 'सम्पूर्ण सामायिक' प्राप्त नहीं हो सकती। यह बात बताने के लिये सामायिक को "अनवद्य" नाम से भी सम्बोधित किया गया है।

समस्त सावद्य की त्याग-स्वरूप सामायिक हेय-उपादेय वस्तु के ज्ञान के बिना सम्भव नहीं होती, तथा यह समस्त सावद्य त्याग का प्रत्याख्यान गुरु भगवान की साक्षी में ही करना पड़ता होने से सामायिक के "परिज्ञा" एवं "प्रत्याख्यान" नाम भी सार्थक हैं।

श्री आचारांग सूत्र में "परिज्ञा" के दो भेद बताये गये हैं—(१) ज्ञपरिज्ञा और (२) प्रत्याख्यान परिज्ञा। यहाँ उन दोनों को सामायिक के समानार्थक नामों के रूप में ग्रहण किया गया है। परिज्ञा में ज्ञान एवं क्रिया रूप मोक्ष-मार्ग का निर्देश होने से वह सामायिक स्वरूप है।

सामायिक के ये आठों एकार्थक नाम (पर्यायवाची शब्द) सामायिक के भिन्न-भिन्न अर्थों को स्पष्ट बोध कराते हैं।

इन आठों नामों में रत्नत्रयी एवं पंचाचार का अन्तर्भाव हो चुका है, जिसका निम्न विचार किया जा सकता है—

"सामायिक" प्रशम भाव की प्राप्तिस्वरूप होने से उसमें सम्यग्ज्ञान, दर्शन और चारित्र रूप रत्नत्रयी का और ज्ञानाचार, दर्शनाचार और चारित्राचार का समावेश हुआ है।

सम्यग्वाद—यह वचन शुद्धि रूप होने से उसमें सम्यग्-दर्शन एवं दर्शनाचार का समावेश हुआ है।

समास, संक्षेप एवं परिज्ञा शब्दों में सम्यग्ज्ञान और ज्ञानाचार का समावेश हुआ है।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

सामायिक एवं अनवद्य शब्दों में सम्यग्-चारित्र और चारित्राचार का समावेश हुआ है।

प्रत्याख्यान शब्द में सम्यग्-तप और तपाचार तथा वीर्याचार का समावेश हुआ है।

ज्ञान आदि चारों आचारों के पालन से वीर्याचार का पालन अवश्य होता है, जिससे वीर्याचार का सबमें समावेश हो जाता है।

ये विभाग नाम-भेद के कारण सामान्यतया किये गये हैं। अन्यथा अर्थतः तो सामायिक में कोई भेद नहीं है। सामायिक रत्नत्रयी एवं पंचाचार स्वरूप ही है।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

९. सामायिक सूत्र एवं रहस्यार्थ

सामायिक के उपोद्घात का वर्णन पूर्ण हुआ। अब "सूत्र" की व्याख्या के निर्देश दिये जाते हैं। "विशेषावश्यक भाष्य" में सामायिक सूत्र की व्याख्या करने से पूर्व नवकार मन्त्र की व्याख्या की गई है, जिससे—

प्रश्न—सबके मन में सहज रूप से उठने वाला यह प्रश्न है कि व्याख्या यदि सामायिक सूत्र की करनी है तो प्रथम निर्देश नमस्कार महामंत्र का क्यों ? उसकी व्याख्या को अग्रस्थान देने का क्या कारण है ?

समाधान—नमस्कार मंत्र का प्रथम निर्देश यह सूचित करता है कि सामायिक सूत्र का पाठ (उच्चारण) नमस्कार पूर्वक ही किया जाता है। दूसरी बात यह है कि "नमस्कार" (नवकार मंत्र) समस्त श्रुतस्कन्धों में अभ्यंतरभूत है, अर्थात् यह समस्त आगम शास्त्रों में व्याप्त है। अतः प्रथम इसकी व्याख्या करके तत्पश्चात् सामायिक सूत्र की व्याख्या करना शास्त्रकार ने उचित माना है।

प्रश्न—एक प्रश्न और उठता है कि नमस्कार मंत्र का प्रथम निर्देश सामायिक सूत्र के आदि-मंगल के लिए अथवा उपोद्घात निर्युक्ति के अन्तिम मंगल के लिए भी किया हो ?

समाधान—नहीं, यह शंका भी उचित नहीं है, क्योंकि पूज्य भद्रबाहु स्वामीजी ने "आवश्यक सूत्र" के प्रारम्भ में "नंदी" के रूप में तथा अन्त में "प्रत्याख्यान" के रूप में मंगल किया ही है। अतः दूसरी बार मंगल करना आवश्यक नहीं है, परन्तु नमस्कार परमार्थतः सामायिक स्वरूप है, सामायिक का ही अंग है। यह बताने के लिए ही इसका प्रथम निर्देश किया है।

उपर्युक्त चर्चा से स्पष्ट है कि नमस्कार मंत्र सामायिक का मूल है; क्योंकि नमस्कार विनम्र एवं भक्ति स्वरूप है और सामायिक धर्म स्वरूप है।

धर्म का मूल विनय है। जिस व्यक्ति में विनय एवं भक्ति की भावना होती है, वही विशुद्ध सामायिक-समता को प्राप्त कर सकता है।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

नमस्कार के द्वारा पाँचों परमेष्ठियों को अर्थात् विश्व की सर्वोच्च आध्यात्मिक भूमिका में स्थित सामायिकवान् विभूतियों को वन्दन किया जाता है, जिससे साधक को भी विशुद्ध सामायिक की प्राप्ति सुलभ होती है।

नमस्करणीय के गुण प्राप्त करने की "नमस्कार" एक गुरु-चाबी है। अहंकार का सर्वथा त्याग करके हम जिनके प्रति नम्रता रखते हैं, आदर एवं भक्ति धारण करते हैं उनके विशिष्ट गुणों का हमारे भीतर संक्रमण होता है। सामायिकवान् की सेवा (भक्ति) किये बिना सामायिक प्राप्त नहीं हो सकती। इस रहस्योद्घाटन के लिए ही "नमस्कार" को सामायिक का अंग मान लिया हो यह स्पष्ट समझा जा सकता है।

"नमस्कार निर्युक्ति" में नमस्कार की विस्तारपूर्वक व्याख्या करके उसका विशेष महत्व बताया गया है।

समाधि (सामायिक) के अभिलाषी सुज्ञ साधकों को सर्वप्रथम श्री नमस्कार मंत्र को जीवन में आत्मसात् करना चाहिए।

धर्म के प्रमुख दो अंग हैं—(१) निश्चयधर्म और (२) व्यवहारधर्म। ये दोनों परस्पर संकलित हैं, एक दूसरे के पूरक हैं। निश्चय-निरपेक्ष व्यवहार अथवा व्यवहार-निरपेक्ष निश्चय कदापि कार्य-साधक नहीं बन सकते।

मोक्षरूप कार्य की सिद्धि दोनों धर्मों के सापेक्ष पालन से ही होती है। जिस प्रकार बाह्य जीवन में समस्त कार्यों की सिद्धि देह के मुख्य अंग मस्तक एवं धड़ दोनों की सापेक्षता से ही होती है। धड़विहीन मस्तक से अथवा मस्तकविहीन धड़ से कोई निश्चित कार्य-सिद्धि नहीं हो सकती। यहां भी नमस्कार सामायिक का आदि अंग है यह बताकर निश्चय-व्यवहार धर्म की पारस्परिक सापेक्षता सिद्ध की गई है।

व्यवहार साधन है, निश्चय साध्य है। साध्य की सिद्धि साधन (की साधना) के बिना नहीं हो सकती।

प्रथम कक्षा में नमस्कार साधन है, सामायिक साध्य है जो इस प्रकार है—नमस्कार अर्थात् पूज्यों की पूजा, भक्ति, सम्मान, और आज्ञा-पालन के द्वारा उसके फलस्वरूप सम्यक्त्व, श्रुत एवं चारित्र सामायिक की प्राप्ति होती है।

द्वितीय कक्षा में नमस्कार अर्थात् सामायिक की प्राप्ति के पश्चात् आत्म-स्वभाव-परिणमन रूप नमस्कार साध्य होता है और "सामायिक"

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

उसका साधन होता है, अर्थात् ज्यों-ज्यों पदार्थों की श्रद्धा, ज्ञेय पदार्थों का यथार्थ बोध, हेय पदार्थों का त्याग और उपादेय पदार्थों का आदर होता है, त्यों-त्यों आत्मा का स्वभाव में विशेष-विशेष परिणमन होता रहता है।

इस प्रकार निश्चय-सापेक्ष व्यवहार का पालन क्रमशः मोक्ष का शाश्वत सुख उपहारस्वरूप प्रदान करता है। इस सापेक्ष दृष्टि से आराधना में ओत-प्रोत होने की अपूर्व कला प्राप्त करके जीवन में निश्चय एवं व्यवहार का सुमेल करने के लिए यथासंभव प्रयत्न करना ही समस्त मुमुक्षु आत्माओं का प्राप्त कर्तव्य है।

कोई भी योग प्रीति, भक्ति, वचन एवं असंग अनुष्ठानमय हो तो ही वह मोक्ष-साधक होता है। नमस्कार भी उपर्युक्त चारों अनुष्ठान-स्वरूप है जो इस प्रकार है—

कायिक नमस्कार—करबद्ध शीश झुकाकर किया जाने वाला नमस्कार।

वाचिक नमस्कार—पंच परमेष्ठियों के गुणों की स्तुति।

मानसिक नमस्कार—मन ही मन पंच परमेष्ठियों के प्रति उत्पन्न होता आदर भाव।

इस प्रकार तीनों योगों की एकाग्रतापूर्वक नमस्कार करने से साधक के हृदय में पंच परमेष्ठियों के प्रति परम भक्ति-प्रीति उत्पन्न होती है और ज्यों-ज्यों इस भक्ति-प्रीति का विकास होता रहता है, त्यों-त्यों परमेष्ठियों के वचनों के प्रति अर्थात् उनके द्वारा बताये गये "आगमों" के प्रति विशेष सम्मान भाव उत्पन्न होता रहता है, जिससे शास्त्रोक्त विधिपूर्वक अनुष्ठान करने की प्रेरणा जागृत होती है, तब नमस्कार "वचन अनुष्ठान" की कोटि में अर्थात् शास्त्र योग की कोटि में आता है। सामायिक उस नमस्कार का फल है।

जो प्रीति एवं भक्ति परमेष्ठियों के प्रति थी वह सामायिक प्राप्त होने पर उनके वचनों के प्रति अर्थात् जिनागम को जिनस्वरूप मानकर उनके प्रति भी उतना ही प्रेम एवं सम्मान होता है, तत्पश्चात् सावद्ययोग के परिहार एवं निरवद्य योग के सेवन से आत्म-परिणति निर्मल, निर्मलतर होने से जब पंच परमेष्ठियों के साथ एकता स्थापित होती है, तब साधक को अपनी आत्मा भी परमेष्ठी तुल्य प्रतीत होती है, जिससे उसके प्रति भी उतना ही पूज्य भाव उत्पन्न होता है। इस स्थिति में नमस्कार असंग

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

अनुष्ठान स्वरूप हो जाता है जिसे सामर्थ्य योग का नमस्कार भी कहा जाता है। ऐसा एक ही नमस्कार जीव को संसार-सागर से पार लगाने में समर्थ है।[1]

नमस्कार समस्त श्रुतस्कन्ध में अभ्यन्तरभूत है अर्थात् व्यापक है, जिसका कारण यही है कि "नमस्कार" भक्तिस्वरूप है। पंच परमेष्ठियों की सेवा, भक्ति से आत्म-शुद्धि प्रकट होती है।

नमस्कार का फल—

अरिहंत-नमुक्कारो, जीवं मोएइ भवसहस्साओ।
भावेण कीरमाणो, होइ पुण बोहिलाभाए॥

इस गाथा में नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव नमस्कार ग्रहण किया गया है, जो इस प्रकार है—

(१) "नमोक्कार" से नाम नमस्कार ग्रहण किया हुआ है।

(२) "अरिहंत" शब्द से बुद्धिस्थित अरिहंत के आकार वाली स्थापना का ग्रहण है।

(३) "कीरमाणो" अंजलि पूर्वक किया जाने वाला द्रव्य नमस्कार है।

(४) "भावेण" पद से भाव नमस्कार का ग्रहण है।

इन चारों प्रकार से किया जाने वाला नमस्कार जीव को अनन्त भव-भ्रमण से मुक्त कराता है। उसी भव में मुक्त कराता है अथवा भावना (उपयोग) विशेष से किया जाने वाला नमस्कार अनन्य जन्मों में बोधि—सम्यग्दर्शन आदि अवश्य प्राप्त कराके क्रमशः अल्प समय में ही मुक्ति प्रदान करता है। संसार-क्षय के लिए तत्पर बने धन्य पुरुषों के हृदय में सतत निवास करता नमस्कार प्राणियों को कुमार्ग से एवं दुर्ध्यान से भी रोकता है।[2]

जिनशासन में एक वाक्य को भी, यदि उक्त वाक्य संवेग उत्पन्न करने वाला हो तो "प्रकृष्टज्ञान" के रूप में महत्व दिया गया है, क्योंकि ज्ञान उसे ही कहा जाता है जिससे वैराग्य प्राप्त होता है।

अरिहंत भगवान को किया गया नमस्कार आठों प्रकार के कर्मों का

---

१ इक्कोवि नमुक्कारो जिनवर वसहस्स वद्धमाणस्स।
संसार सागराओ तारेइ नरं व नारीं वा॥

२ अरिहंत नमुक्कारो धण्णाणं भवखयं करंताणं।
हिययं अणम्मुयंतो विसोत्तिया वारओ होइ॥

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

नाश करता है, समूल उच्छेद करता है तथा सर्व नाम आदि मंगलों में नमस्कार प्रधान मंगल है, क्योंकि साध्य – मोक्ष का भी यही साधक है, अथवा द्रव्य भाव मंगलों में प्रथम मंगल है। आदि में उसका निर्देश होने से नन्दी सूत्र में स्तुति के दो प्रकार बताये गये हैं—एक "प्रमाण रूप" और दूसरा "गुणोत्कीर्तन[1] रूप"। "नमो" के द्वारा उन दोनों प्रकार की स्तुति होती है और उसका फल बताते हुए आगम ग्रन्थों में उल्लेख है कि—

"जिनेश्वर की स्तुति से जीव ज्ञान, दर्शन, चारित्र और बोधिलाभ प्राप्त करता है और वह ज्ञान आदि से उसी भव में मोक्ष प्राप्त करता है।"

यह महान फलश्रुति ही स्पष्ट करती है कि "नमस्कार" के द्वारा अवश्य सामायिक की प्राप्ति होती है।

१ अरिहंत नमुक्कारो धण्णाणं भवखयं करंताणं।
हिययं अणम्मुयंतो वियोत्तिया वारओ होइ॥

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

विभाग : २

सामायिक सूत्र

(शब्दार्थ एवं विवेचन युक्त)

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

सामायिक सूत्र

(शब्दार्थ एवं विवेचना)

(१) मूल पाठ—

करेमि भन्ते ! सामाइयं, सव्वं सावज्जं जोगं पच्चक्खामि।
जावज्जीवाए (जाव नियमं पज्जुवासामि)
तिविहं, तिविहेणं (दुविहं तिविहेणं)
मणेणं वायाए काएणं,
न करेमि, न कारवेमि, करंतपि अन्नं न समणुज्जाणामि।
तस्स भन्ते ! पडिक्कमामि, निंदामि, गरिहामि, अप्पाणं वोसिरामि।

(२) संस्कृत छाया—

करोमि भदन्त ! सामायिकं, सर्वं सावद्यं योगं प्रत्याख्यामि।
यावज्जीवया (यावत् नियमं पर्युपासे)
त्रिविधं त्रिविधेन (द्विविधं त्रिविधेन)
मनसा वाचा कायेन,
न करोमि, न कारयामि, कुर्वन्तमपि अन्यं न समनुजानामि।
तस्य भदन्त ! प्रतिक्रमामि निन्दामि गर्हे आत्मानं व्युत्सृजामि।

अर्थ—

करेमि = मैं करता हूं, मैं ग्रहण करता हूं।
भन्ते = हे भदन्त ! हे भवांत ! हे भयांत ! हे भगवान् !
भदन्त अर्थात् कल्याणकारी, भवांत अर्थात् चतुर्गतिरूप भवसागर का अन्त करने वाले, भयांत अर्थात् सात प्रकार के भय का अन्त करने वाले, भगवान् अर्थात् पूज्य।
सामाइयं = सामायिक को।
सव्व सावज्जं = सावद्य-पाप सहित, पाप वाले (ऐसे) सब।
जोगं = योग को (मन, वचन और काया के व्यापार को)।
पच्चक्खामि = प्रत्याख्यान करता हूँ, निषेध करता हूँ, त्याग करता हूँ।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

जावज्जीवाए=जीवित हूँ तब तक ।

(जावनियमं पज्जुवासामि=जब तक नियम की, ली हुई प्रतिज्ञा की पर्युपासना करूँ)

तिविहं=करने, कराने और अनुमोदन स्वरूप तीन प्रकार से ।

(दुविहं=करने और कराने के रूप में दो प्रकार से)

तिविहेणं=तीन प्रकार से अर्थात् मणेणं=मन से, वायाए=वचन से, काएणं=शरीर से ।

न करेमि=मैं नहीं करूँ, न कारवेमि=मैं नहीं कराऊँ ।

करंतंपि अन्नं न समणुज्जाणामि=करते हुए किसी अन्य का अनुमोदन भी नहीं करूँ ।

तस्स=उस सावद्य योग का ।

भन्ते=हे भगवान् ।

पडिक्कमामि=मैं प्रतिक्रमण करता हूँ अर्थात् उक्त पाप से पीछे हटता हूँ ।

निंदामि=मैं निंदा करता हूँ, पश्चात्ताप करता हूँ (आत्म साक्षी से)

गरिहामि=मैं गर्हा करता हूँ, गुरु की साक्षी से विशेषतया निन्दा करता हूँ ।

अप्पाणं=आत्मा को (अर्थात् पूर्वकाल से सम्बन्धित दुष्ट क्रिया करने वाली जो मेरी आत्मा—कषायात्मा उसे उस दुष्ट क्रिया से)

वोसिरामि=मैं वोसिराता हूँ, त्याग करता हूँ ।

विवेचन—

"करेमि भन्ते" नाम से अत्यन्त प्रसिद्ध इस सूत्र का दूसरा नाम "सामायिक सूत्र" है । यह सूत्र प्रतिज्ञा स्वरूप है, निश्चित समय तक सामायिक (समभाव) में रहने की प्रतिज्ञा इस सूत्र का उच्चारण करके ग्रहण की जाती है । किसी भी पदार्थ अथवा क्रिया के त्याग अथवा सेवन के लिए प्रतिज्ञा लेना अनिवार्य है । उसके बिना चंचल चित्तवृत्तियों पर नियन्त्रण नहीं हो पाता, प्रतिज्ञा के बिना त्याग अथवा सेवन का वास्तविक फल भी प्राप्त नहीं होता ।

प्रतिज्ञा की काल-मर्यादा सामान्यतया व्यक्ति की इच्छा एवं शक्ति पर ही निर्भर करती है । फिर भी जिस प्रतिज्ञा पच्चक्खाण में समय का निर्देश न हो, उस पच्चक्खाण का कम से कम काल दो घड़ी (४८ मिनट) का समझना चाहिए ऐसी शास्त्रों की मर्यादा है ।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

इस सामायिक प्रतिज्ञा सूत्र में त्याग करने के लिए क्या है और पालन करने के लिए क्या है, आदि समस्त बातों का विचार भिन्न-भिन्न तेरह बिन्दुओं के द्वारा किया जाता है।

सामायिक सूत्र में समाविष्ट १३ बिन्दु—

(१) सामायिक ग्रहण करना—करेमि भन्ते सामाइयं—हे भगवन्! मैं सामायिक करता हूँ।

(२) समस्त सावद्य योगों का त्याग—सावज्जं जोगं पच्चक्खामि—मैं सावद्य योगों का त्याग करता हूँ।

(३) काल का नियम—जावज्जीवाए—जीवित हूँ तब तक।

(४, ५, ६) तीन योग—तिविहं, न करेमि, न कारवेमि, करंतंपि अन्नं न समणुज्जाणामि।

(७, ८, ९) तीन करण—तिविहेणं मणेणं वायाए कायेणं।

(१०, ११, १२, १३) चार प्रतिज्ञा—तस्स भंते पडिक्कमामि, निंदामि, गरिहामि, अप्पाणं वोसिरामि। तीन प्रकार से, तीन प्रकार के सावद्य व्यापार को मन, वचन और काया से नहीं करूँगा, नहीं कराऊँगा, करने वाले का अनुमोदन भी नहीं करूँगा। हे भगवन्! भूतकाल में किये गये उस पाप से पीछे हटता हूँ, आत्म-साक्षी से निन्दा करता हूँ, गुरु की साक्षी से गर्हा करता हूँ और पापयुक्त उस अपनी आत्मा का त्याग करता हूं अर्थात् भविष्य में उक्त पाप नहीं करने की प्रतिज्ञा अंगीकार करता हूँ।

"करेमि भन्ते सामाइयं"—हे भगवन्! मैं सामायिक अंगीकार करता हूँ।

इस पद के द्वारा सामायिक ग्रहण करने की सूचना दी है। ये तीनों पद महान अर्थगर्भित हैं। अतः एक-एक पद का विस्तृत वर्णन "विशेषावश्यक" आगम ग्रन्थों में किया हुआ है। यहाँ तो उस पर संक्षिप्त विचार करेंगे।

प्रश्न—यह वाक्य सुनकर एक प्रश्न उपस्थित होता है कि सामान्यतया प्रत्येक वाक्य कर्त्ता, कर्म और करण आदि कारकों का सूचक होता है, तो उपर्युक्त वाक्य में कर्ता कौन है? कर्म क्या है? करण—साधन कहाँ है? और ये तीनों परस्पर भिन्न हैं अथवा अभिन्न?

समाधान—(१) सामायिक करने वाला "व्यक्ति" ही स्वतन्त्र होने से कर्त्ता है। (२) क्रियमाण (की जाने वाली) "सामायिक" ही कर्म (कार्य) है। (३) मन, वचन और काया तीनों करण हैं। (४) सामायिक, उसका

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

कर्त्ता और उसके साधन (मन, वचन और काया) ये तीनों आत्मा ही हैं, अर्थात् सामायिक रूप कार्य, उसका कर्त्ता (आत्मा) और उसके करण ये तीनों आत्म-परिणाम रूप होने से एक ही हैं, भिन्न-भिन्न नहीं हैं, क्योंकि सामायिक (सामान्यतया) ज्ञान, दर्शन और चारित्र स्वरूप है और करण मन-वचन-काया रूप योग है और वे दोनों आत्मा के ही स्वपर्याय हैं।

प्रश्न—आपकी इस मान्यता के अनुसार तीनों को एक (अभिन्न) मानने में एक बड़ा दोष आयेगा कि सामायिक का नाश होने पर जीव का भी नाश होगा।

समाधान—आपकी आशंका ठीक नहीं है। सामायिक आदि पर्याय का नाश होने पर जीव का नाश नहीं होता, क्योंकि जीव तो उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यस्वरूप अनन्त पर्याय युक्त है। उनमें से एक सामायिक आदि पर्याय का नाश होने पर भी शेष अनन्त पर्यायों से वह सदा स्थिर रहती है।

केवल आत्मा ही नहीं परन्तु विश्व के समस्त पदार्थ भी उत्पत्ति, विनाश एवं ध्रुव स्वभाव युक्त हैं और इस प्रकार माना जाये तो ही सुख-दुःख अथवा बध-मोक्ष आदि की सम्पूर्ण व्यवस्था वास्तविक तौर से घटित हो सकती है, अन्यथा नहीं।

प्रश्न—तो फिर कर्त्ता आदि कारकों का एकत्व प्राप्त होगा उसका क्या ?

समाधान—कर्त्ता आदि कारकों का एकत्व परिणाम विवक्षावश से हो सकता है, इसमें कोई दोष जैसी बात नहीं है, जैसे एक ही देवदत्त कटादि का कर्त्ता, दृष्टाओं का कर्म और प्रयोजक करण के रूप में परिणत हो जाये तब करण के रूप में प्रयुक्त होता है, तथा विवक्षावश से भी एक ही वस्तु में अनेक कारकों का प्रयोग होता है। जैसे घड़े का नाश होता है। यहाँ घट विशरण क्रिया के कर्त्ता के रूप में विवक्षित है, तथा विशरण क्रिया के व्याप्य के रूप में विवक्षित हो तो वही घट कर्म हो जाता है और वह घट पर्याय से नष्ट होता है, इस प्रकार करण के रूप में विवक्षित हो तो करण बनता है।

इस प्रकार एक ही वस्तु विविध अपेक्षा से भिन्न-भिन्न कारकों के रूप में प्रयुक्त होती है, जैसे ज्ञानी पुरुष (मतिज्ञान आदि से युक्त) स्वसंवेदन रूप उपयोग काल में एक होने पर भी तीन स्वरूप में दृष्टिगोचर होते हैं, (१) ज्ञानी स्वउपयोग में उपयुक्त होने से कर्त्ता, (२) संवेद्यमान रूप में कर्म और (३) ज्ञान से अभिन्न होने के कारण करण।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

इसी तरह से सामायिक करने वाला भी एक होते हुए भी विवक्षा-वश कर्त्ता, कर्म और करण के रूप में कहा जा सकता है।

(१) **"करेमि" पद का रहस्य**—"करेमि" क्रिया सामायिक की क्रिया और उसके कर्त्ता को सूचित करती है। प्रत्येक कार्य में षट्कारक-चक्र का कारण के रूप में उपयोग होता है, उसके बिना कोई भी कार्य नहीं हो सकता।

वास्तव में तो कर्तृत्व आदि छः महाशक्ति आत्मा की ही हैं, परन्तु अनादिकालीन अज्ञान के अधीन बने संसारी व्यक्ति देह में ही आत्मबुद्धि रखकर और उसके काल्पनिक सुख के लिए हिंसा आदि अनेक पाप-व्यापार करते हैं जिससे इन कारक शक्तियों का विपरीत प्रयोग होने से ज्ञानावरणीय आदि कर्मों का सृजन होता है और उसके फलस्वरूप जीव को अनेक प्रकार की दारुण वेदना भोगनी पड़ती है, बहुत समय तक संसार में भटकना पड़ता है। जब किसी सच्चे सद्गुरु का पवित्र सम्पर्क होता है और उनसे सामायिक का सुन्दर स्वरूप श्रवण करके (ज्ञात करके) उस समस्त सावद्य-पाप व्यापार का परित्याग करके और समभाव में रहने के लिए "सामायिक" की प्रतिज्ञा ग्रहण करता है, तब उसको कर्तृत्व आदि शक्तियाँ आत्मस्वरूप की साधक बनकर क्रमशः मोक्ष रूपी काय को सिद्ध करने के लिए तत्पर होती हैं।

इस प्रकार अनादि काल से बाधक रूप में परिवर्तित होने पर (एक कर्तृत्व शक्ति का परिवर्तन होने से शेष कारक शक्ति भी स्वयमेव परिवर्तित हो जाती है) इस षट्कारक चक्र का सद्गुरु भगवान "सामायिक" के द्वारा साधक के रूप में परिवर्तित कर सकते हैं।

(२) **"भन्ते" पद का रहस्य**—इस पद के द्वारा जगद्गुरु तीर्थंकर परमात्मा एवं सद्गुरु भगवान का निर्देश दिया गया है।

"करेमि भन्ते सामाइयं"—ये तीनों शब्द ध्याता, ध्येय और ध्यान को सूचित करते हैं। जब तीनों की एकता हो जाती है, तब निश्चय-सामायिक (समापत्ति) सिद्ध होती है।

प्रथम कक्षा में व्यवहार सामायिक में तीनों की भिन्नता होती है, जैसे—

(१) ध्याता—अन्तरात्मा, सामायिक करने वाला व्यक्ति।

(२) ध्येय—परमात्मा अथवा गुरु भगवान।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

(३) ध्यान—सम्यग्दर्शन[1], ज्ञानचारित्र स्वरूप "सामायिक" ही है।

व्यवहार-सामायिक के साधन सावद्य—पाप व्यापारों का त्याग, मन, वचन और काया आदि हैं, जिनका निर्देश सूत्र में ही हो चुका है। व्यवहार सामायिक के सतत सेवन से ही निश्चय सामायिक प्रकट होती है।

निश्चय-सामायिक की प्राप्ति होने पर आत्मा आत्मा के द्वारा आत्मा को आत्मा में ही अनुभव करती है; वही ज्ञान, दर्शन, चारित्र कहलाता है। इस कक्षा में छःओं कारक एक हो जाते हैं। अतः उनकी भिन्नता दृष्टिगोचर नहीं होती।

गुरु तत्त्व का महत्त्व—भन्ते! हे गुरु भगवान्! "भन्ते" शब्द का भिन्न-भिन्न रूप से प्रयोग करने पर कितने अर्थ आदि घटित हो सकते हैं जो यहाँ बताये गये हैं। प्राकृत शैली के कारण ये समस्त अर्थ होते हैं और वे यथार्थ हैं।

"भदन्त"—कल्याण अथवा सुख-स्वरूप मोक्ष अथवा ज्ञान आदि गुण प्राप्त कराने वाले होने से आचार्य भगवान् "भदन्त" कहलाते हैं।

भवान्त—भव (संसार) का अन्त करने वाले होने से आचार्य भगवान् "भवान्त" कहलाते हैं।

भयान्त—सातों प्रकार के महान् भयों के नाशक होने से आचार्य भगवान् "भयान्त" कहलाते हैं।

भजन्त—जो मोक्ष-मार्ग का सेवन करते हैं अथवा जो मुमुक्षुओं के द्वारा सेव्य है। इस कारण आचार्य भगवान् "भजन्त" कहलाते हैं।

भ्राजन्त—जो ज्ञान एवं तप के तेज से तेजस्वी हैं, अतः आचार्य भगवान् "भ्राजन्त" कहलाते हैं।

"भन्ते" शब्द के द्वारा गुरु को निमन्त्रण देने का क्या महत्व है? इस प्रश्न का उत्तर भी महत्वपूर्ण है, वह यह है कि शिष्य के लिए गुरुकुल-निवास का महत्व और प्रत्येक क्रिया गुरु के पवित्र सान्निध्य में ही करने की है, यह बताने के लिए "भन्ते" का निमन्त्रण-सूचक प्रयोग किया गया है।

ज्ञान आदि गुणों का अर्थी शिष्य नित्य गुरुकुल-वासी होता है, क्योंकि उसके बिना ज्ञान आदि गुणों की प्रगति एवं श्रद्धा तथा चारित्र-धर्म में अधिकाधिक स्थिरता होना सम्भव नहीं है।

---

१ "ताहरूं ध्यान ते समकित रूप, तेहीज ज्ञान अने चारित्र तेह छे जी"

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रतिक्रमण, प्रतिलेखन आदि प्रत्येक आवश्यक क्रियायें भी गुरु की निश्रा में करनी चाहिये, ताकि उनमें अतिचार, स्खलना आदि की संभावना न रहे और विधि-विधान में तनिक भी प्रमाद न रहें।

समस्त आवश्यक कर्तव्य गुरु को पूछकर ही करने चाहिये। इस आमन्त्रण-सूचक "भन्ते" शब्द की मुख्य ध्वनि यही है।

प्रश्न—गुरु को पूछने की आवश्यकता क्यों ?

समाधान— विनय सेवा का हेतु है। सेवा के लिए समयोचित मार्ग-दर्शन की आवश्यकता है। गुरु भगवान कृत्य, अकृत्य और द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव आदि के ज्ञाता होते हैं। इस कारण ही उनकी आज्ञा की आवश्यकता रहती है। अरे, श्वासोश्वास लेने-छोड़ने की क्रिया के लिए भी गुरु की आज्ञा लेने का शास्त्रीय आदेश है, विधान है। इसी प्रकार से गुरु की निश्रा (उपस्थिति) भी महान फलदायिनी है।

प्रत्येक क्रिया करते समय "स्थापनाचार्य जी" को सम्मुख रखने का यही कारण है। जिस प्रकार जिनेश्वर के विरह में जिन-पडिमा और जिनागम की पूजा आदि करने से साक्षात् जिन-पूजा जितना ही फल प्राप्त होता है, उसी प्रकार से गुरु के विरह में भी "गुरु-स्थापना" उनके उपदेश को बताने वाली होने से पूजनीय है। उनकी विनयपूर्वक भक्ति, पूजा अवश्य फलदायिनी होती है। जिस प्रकार किसी राजा अथवा मन्त्र-देवता की आराधना परोक्ष रूप से की जाये तो भी उसके आराधक को इष्ट-फल प्राप्त होता है, उसी प्रकार से अप्रत्यक्ष गुरु की सेवा भी विनय का कारण बनती है।

गुरु की स्थापना में दर्शन-वन्दन से शिष्य को गुरु के गुणों का स्मरण होता है और जब वह उसमें तन्मय हो जाता है तब उक्त शिष्य भी "भाव गुरु" का स्वरूप धारण करता है, यह एक अपेक्षा से (आगम में भाव-निपेक्ष से) कहा जा सकता है। इस कारण ही गुरु की अनुपस्थिति में गुरु-स्थापना गुरु के गुणों का ज्ञान-स्मरण कराने में महान निमित्त होती है। इसलिए साक्षात् गुरु की तरह स्थापना-गुरु की भी विनय करना आवश्यक है क्योंकि दोनों की सेवा का फल समान है।

जिन-शासन का मूल विनय है। विनीत व्यक्ति ही "संयत—संयमी" होता है। **विनयविहीन व्यक्ति को धर्म अथवा तप की सम्भावना नहीं होती।**

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

गुरु-वन्दन के महान लाभ—

सद्गुरु भगवानों को वन्दन, नमन करने से अनेक प्रकार के लाभ होते हैं, अनेक प्रकार के गुण प्राप्त होते हैं। आदर पूर्वक गुरु-वन्दन करने से विनय धर्म की आराधना होती है, अभिमान पिघल जाता है, गुरु-जनों की पूजा-सेवा होती है, तीर्थंकर भगवान की आज्ञा का पालन होता है और श्रत-धर्म की आराधना होती है।

"भन्ते" शब्द की व्याख्या करते हुए शास्त्रकार महर्षि ने गुरु तत्व का जो विशिष्ट स्वरूप एवं महत्व प्रतिपादित किया है, उसके गूढ़ रहस्य तो कोई बहुश्रुत गीतार्थ गुरु भगवान् ही समझा सकते हैं। यहाँ तो उसके स्वरूप सार मात्र पर विचार किया जायेगा।

गुरु-तत्व का स्वरूप—"भन्ते" शब्द के भदन्त आदि पर्यायवाची शब्दों के द्वारा गुरु-तत्व का स्वरूप स्पष्ट किया गया है जो इस प्रकार है—"भद्" धातु का अर्थ "कल्याण" और "सुख" होता है, जिससे बने "भदन्त" शब्द का अर्थ "कल्याणकारी" एवं "सुखी" होता है। गुरु भगवान स्वयं कल्याणस्वरूप एवं सुखस्वरूप हैं और अन्य व्यक्तियों को भी कल्याण एवं सुख प्राप्त कराने वाले हैं। कल्य का अर्थ "आरोग्य" भी होता है। गुरु भगवान् मोक्ष अथवा उसके कारणभूत ज्ञान आदि भाव-आरोग्य को प्राप्त कराते हैं, स्वयं मोक्ष अथवा उसके कारणभूत ज्ञान आदि के स्वरूप को जानते हैं और भव्य आत्माओं को बताते हैं।

अथवा तो गुरुदेव द्वारा दिये गये अभयदान आदि के उपदेश से अहिंसा आदि की शुभ प्रवृत्ति से जीव सुख का अनुभव करते हैं, अतः सुख-दाता "गुरु" भी "सुख" कहलाते हैं।

भवान्त—भव का—चार गति स्वरूप दुःखमय संसार का अन्त करने के उपदेशक गुरुदेव भी "भवान्त" कहलाते हैं।

भयान्त—इहलोक आदि सात भयों के नाशक होने से "गुरु" "भयान्त" कहलाते हैं। महान सात भय निम्नलिखित हैं—

(१) इहलोक भय—मनुष्य को मनुष्य का भय।

(२) परलोक भय—मनुष्य को तिर्यंच से भय।

(३) आदान भय—धन-धान्य आदि के नाश का भय (चोरी होने का भय)

(४) अकस्मात् भय—बाह्य निमित्त के बिना उत्पन्न होने वाले आकस्मिक भूकम्प, बाढ़ आदि का भय।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

(५) अपयश भय—लोक में अपकीर्ति होने का भय।

(६) आजीविका भय—जीवन-निर्वाह, परिवार-पोषण आदि की चिन्ता का भय।

(७) मृत्यु भय—मरने का भय।

ये सातों प्रकार के भय इस लोक से सम्बन्धित हैं और भव का भय परलोक से सम्बन्धित है।

सम्पूर्ण विश्व के जीवों पर ये दोनों प्रकार के भय झूम रहे हैं। भय की कल्पना मात्र से ही अनेक जीव आकुल-व्याकुल हो जाते हैं, मृत्यु के मुंह में से बचने का सभी लोग यथासम्भव पुरुषार्थ करते हैं। इन दोनों प्रकार के भयों का सर्वथा नाश करने के ठोस उपाय गुरुदेव के उपदेश के द्वारा ज्ञात होते हैं। सच्चे सद्गुरु के बिना कोई महाभयों से मुक्त होने का सच्चा मार्ग बता नहीं सकते।

इस प्रकार सम्पूर्ण विश्व के जीवों को अभयदान एवं सुख देने वाले तथा उनका कल्याण करने वाले ही "सद्गुरु" कहलाते हैं और वे विश्व-बन्धु तीर्थंकर परमात्मा और उनके आज्ञा-पालक आचार्य भगवान आदि ही हो सकते हैं।

उपर्युक्त गुणों के धारक गुरु की सेवा करने से भय अथवा भय का अन्त आ सकता है। यह गुरु-सेवा क्रमशः गुरुकुल-वास, गुरु-पारतन्त्र्य एवं उचित विनय आदि से होती है।

गुरुकुल-वास का अर्थ है गुरु के साथ रहना, भोजन, शयन, प्रति-क्रमण, विहार आदि क्रिया गुरु के साथ करना अथवा उनकी आज्ञानुसार अथवा उनकी निगरानी में क्रिया करना। शास्त्रों में गुरुकुल-वास का अत्यन्त महत्व बताया गया है। गुरु की निश्रा में रहने से नित्य श्रुतज्ञान की वृद्धि होती है, सम्यग्-दर्शन आदि गुण निर्मल एवं स्थायी होते जाते हैं और चारित्र की विशुद्धि एवं स्थिरता में वृद्धि होती जाती है। संक्षेप में गुरु सामीप्य से श्रुत, सम्यक्त्व एवं चारित्र सामायिक की प्राप्ति, शुद्धि, वृद्धि एवं स्थिरता होती है। गुरु का सतत सान्निध्य ही सापेक्ष यतिधर्म कहलाता है। गुरु-कुल-वास समस्त सदाचारों का मूल है।

गुरु पारतंत्र्य का अर्थ है सम्पूर्ण समर्पित भाव, अपना जीवन संपूर्ण रूप से गुरु को सौंप देना, उनकी आज्ञा को ही जीवन मन्त्र बनाना।

गुरु के साथ रहने पर भी यदि व्यवहार स्वच्छंदतापूर्ण हो, गुरु की आज्ञा का पालन करने में उपेक्षा होती हो, आँख-मिचौनी होती हो तो

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

इस प्रकार के गुरुकुल-वास का कोई फल प्राप्त नहीं होता। गुरु की आज्ञा का पालन किये बिना "भावयतिपन" नहीं आता। गुरु की आज्ञा की आराधना "भावयति" का लक्षण है। कहा भी है कि प्रत्येक प्रवृत्ति में गुरु के समीप रहना अर्थात् गुरु की निश्रा में प्रत्येक प्रवृत्ति करने को ही "अन्तेवासीपन" कहते हैं।

गुरु की दृष्टि[1], आज्ञानुसार व्यवहार करना।

गुरु द्वारा निर्दिष्ट मुक्ति-विरति-अनाशंस भाव को जीवन में ज्वलंत करने का सतत प्रयास करना।

प्रत्येक कार्य में गुरु को ही अग्रस्थान देना।

कोई भी कार्य स्वेच्छा से न करके गुरु की अनुमति से करना। गुरु के आसन के समीप अपना आसन रखना, गुरु के समीप रहना।

उचित विनय—गुरु की निश्रा में रहने वाला, गुरु की आज्ञा का पूर्णतः पालन करने वाला मुनि परम विनयी होता है, स्वयं के गुरु तथा स्वयं से अधिक पर्याय वाले अथवा ज्ञान आदि गुणों में अधिक मुनिवरों के साथ भी यथोचित विनय रखने में प्रवीण होकर सबके साथ औचित्य रख कर गुरु की सेवा में तत्पर रहता है।

गुरुदेव की आदरपूर्वक हार्दिक सेवा-शुश्रुषा करने से उनके आशय के अनुसार कार्य करने की कुशलता प्राप्त होती है। किसी समय गुरु ने आज्ञा प्रदान न की हो तो भी विनीत शिष्य उनके आशय के अनुरूप ही कार्य करता है।

इस प्रकार "गुरु-विनय" से "सामायिक" की प्राप्ति होती है, अन्यथा नहीं; यह बताने के लिए ही यहाँ गुरु-वन्दन एवं सेवा आदि के लाभ बताकर उनका विशेष महत्व स्पष्ट किया गया है। इस प्रकार के वन्दन एवं नमस्कार के योग्य पाँचों परमेष्ठी हैं। उन सबका समावेश "भन्ते" में हो चुका है।

'नमस्कार[2] निर्युक्ति" में कहा है कि "नमस्कार करने योग्य यदि विश्व में कोई हो तो वे ज्ञान आदि गुणों के भण्डार श्री अरिहंत आदि

---

१ तद्दिट्ठीए, तम्मोत्तिए तप्पुरक्कारे तस्सण्णी तन्निवेसणे ॥ —धर्मसंग्रह

२ ते अरिहंता य सिद्धायरिओवज्झाय साहवो नेया।
जे गुणमय भावाओ गुणाव्व पुज्जा गुणत्थीणं ॥२९४२॥ —विशेषा०

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

पाँच परमेष्ठी ही हैं। अतः ज्ञान आदि गुणों के अभिलाषी व्यक्ति को तो पाँचों की नमस्कार आदि के द्वारा अहर्निश पूजा करनी चाहिए।"

सामायिक ज्ञानमय है। उसके अभिलाषी व्यक्ति को भी अरिहंत आदि की सेवा करनी ही चाहिये।

"भन्ते" पद का रहस्यार्थ कहो अथवा समस्त शास्त्रों का सार कहो, वह यही है कि परमात्म-भक्ति और गुरु-भक्ति में तन्मयता सिद्ध हो तो ही "सामायिक" (समाधि-समापत्ति) सिद्ध हो सकती है। इस "शास्त्र-वाचन" की विशेष स्पष्टता ज्यों-ज्यों हम आगे पढ़ेंगे त्यों-त्यों होती रहेगी।

प्रश्न—"भन्ते" पद से गुरु का ग्रहण तो हो जाता है, परन्तु अरिहन्त का ग्रहण कैसे होगा?

समाधान[1]—महावीर भगवान आदि अरिहन्त जिस प्रकार अष्ट महाप्रातिहार्य आदि अतिशयों के कारण "जिनेश्वर" कहलाते हैं, उसी प्रकार से तत्व के उपदेशक होने से गुरु (आचार्य) भी कहलाते हैं। अतः "भन्ते" पद से दोनों का ग्रहण हुआ है। समस्त अरिहन्त परमात्मा तत्वोपदेश के द्वारा अपने गणधर आदि शिष्यों को सामायिक का दान करते हैं। उस समय उनके शिष्य "भन्ते" पद से भगवान को ही सम्बोधित करते हैं। यह बात सर्वत्र प्रसिद्ध है।

"भन्ते" पद के द्वारा उपयोग का महत्व—"भन्ते" आत्मा के निमन्त्रण के अर्थ में भी लिया जा सकता है। अतः सामायिक ग्रहण करने वाला व्यक्ति अपनी आत्मा को सम्बोधित करके कहता है कि—"हे जीव! मैं सामायिक करता हूँ।" आत्मा को सम्बोधित करके किया गया यह प्रयोग समस्त शेष क्रियाओं का त्याग करके एक "सामायिक" को क्रिया में ही उपयोग रखने का सूचित करता है।

शास्त्र द्वारा कथित अनुष्ठान करते समय भी परस्पर एक दूसरे अनुष्ठान का विघात न हो, परन्तु प्रारब्ध क्रिया में ही उपयोग रहे, वैसा व्यवहार करना चाहिये।

"सामायिक" आदि अनुष्ठान करते समय आत्मा को उसमें ही लीन कर देना चाहिये। उपयोगपूर्वक की गई क्रिया ही भावस्वरूप होती है। उपयोगरहित क्रिया 'द्रव्य क्रिया" कहलाती है।

---

१ स जिणो जिणाइ सयओ सो चेव गुरु गुरूवएसाओ।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

"उपदेश पद" में[1] कहा है कि—"उपयुक्त भावरूप अप्रमाद ही "शुद्ध आज्ञायोग" है, अर्थात् जहाँ-जहाँ उपयोग है, वहाँ-वहाँ जिनाज्ञा की आराधना है और जहाँ-जहाँ उपयोग नहीं है वहाँ जिनाज्ञा की विराधना है।

साधु-दिनचर्या में भी उपयोग के लिए विशेष कायोत्सर्ग किया जाता है, उसका भी यही रहस्य है।

"उपयोगे धर्मः"—यह अत्यन्त प्रसिद्ध पंक्ति भी इसी भाव को सूचित करती है। उपयोग एवं धर्म का कितना प्रगाढ़ सम्बन्ध है, वह सहज ही समझा जा सकता है।

साधुधर्म हो अथवा श्रावकधर्म, श्रुतधर्म हो अथवा चारित्रधर्म अथवा उसके कोई भी भेद-उपभेद हों जैसे अहिंसा, संयम अथवा तप, दान, शील, तप अथवा भाव ये समस्त धर्म के प्रकार यदि उपयोग से युक्त हों तो परमार्थतः धर्मस्वरूप माने जाते हैं।

उपयोग जीव का लक्षण है जो सदा जीव के साथ ही रहता है, परन्तु उक्त उपयोग जब तक अशुद्ध होता है, राग-द्वेष से मलिन बना हुआ होता है, तब तक समस्त शुभ क्रिया निरर्थक है। अनादिकालीन अशुद्ध उपयोग को जो शुभ एवं शुद्ध रूप में परिवर्तित कर दे उसे "धर्म" कहते हैं। शुभ उपयोग अशुभ उपयोग को दूर करके आत्मा का शुद्ध उपयोग उत्पन्न करता है। सामायिक शुभ उपयोग स्वरूप है जिससे उसके द्वारा अशुभ उपयोग टल जाता है और शुद्ध उपयोग का प्रादुर्भाव होता है।

अशुद्ध उपयोग ही संसार है और सम्पूर्ण शुद्ध उपयोग मोक्ष है। उपयोगयुक्त सामायिक अशुद्ध उपयोग रूप संसार से बाहर निकाल कर आत्मा को शुद्ध उपयोग रूप मोक्ष प्राप्त कराती है।

इस प्रकार आत्मा को लक्ष्य करके किया गया "भन्ते" सम्बोधन उपयोग का विशेष महत्व बताने वाला है।

"भन्ते" पद के द्वारा देवतत्व का महत्व—"भन्ते" (भदन्त) पद से समस्त जिनेश्वर, समस्त सिद्ध भगवान् तथा अतिशय ज्ञानी भगवन् को भी सम्बोधित किया जाता है। भो भो जिनादयो भदन्ताः। हे जिनेश्वर आदि भगवन्! मैं आपकी साक्षी से सामायिक ग्रहण करता हूँ।

---

१ एत्तोउ अप्पमाओ भणिओ सव्वत्थ भगवया एवं।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

परमात्मा की साक्षी रखने से व्रत में स्थिरता आती है। सामायिक व्रत ग्रहण करने वाले व्यक्ति को सहज ही ऐसा विचार आता है कि सर्वज्ञ भगवन्तों की साक्षी में मैंने यह सामायिक स्वीकार की है। अतः इसका पालन करने में मुझे अत्यन्त ही सावधानी रखनी चाहिये, किसी प्रकार का कोई दूषण न लगे उसकी सावधानी रखनी चाहिये। वह इतनी प्रबल श्रद्धा एवं दृढ़ता के साथ सामायिक व्रत का उत्तम प्रकार से पालन करने के लिए तत्पर होता है।

चालू व्यवहार में भी गुरुजनों की साक्षी से उनको देखरेख में होने वाले कार्य में किसी प्रकार की कमी रह जाये तो लज्जाजनक माना जाता है। उनके प्रति सम्मान होने से उनका भय भी रहता है। इसी प्रकार से सामायिक व्रत का पालन करने में तत्पर साधक को ज्ञानी भगवानों से लज्जा एवं भीति प्रतीत होती है। इस कारण उत्तम प्रकार से सावधानी-पूर्वक व्रत पालन करने की सक्रिय लगन साधक के हृदय में निरन्तर रमण करती होनी चाहिये।

सर्वज्ञ वीतराग शासन की ही यह बलिहारी है कि उस शासन-रसिक आराधक को सर्वत्र सब प्रकार से सुरक्षा प्राप्त होती ही रहती है, क्योंकि निरतिचारपूर्वक शुभ भाव से सामायिक करने वाले साधक के हृदय में अनन्तज्ञानी भगवन्तों के प्रति अप्रतिम पूज्य भाव होता है; जिससे वह उनके अनुग्रह का पात्र बना रहता है और परमात्मा की कृपा से बढ़कर सुरक्षा इस विश्व में कोई है ही नहीं।

प्रश्न—व्यवहार में दो व्यक्तियों के मध्य चलते व्यापार आदि में दलाल आदि तीसरे मनुष्य को प्रत्यक्ष उपस्थिति होती है। कदाचित् किसी समय यदि सौदे में कोई आपत्ति उत्पन्न हो तो वह दलाल साक्षी देता है कि मेरी उपस्थिति में यह सौदा अमुक प्रकार से हुआ था और वह उसके लिए प्रमाण दे देता है। इस कारण लोगों में अपयश होने के भय से अथवा सज्जन मनुष्यों को लज्जा से भी मनुष्य भूल करने में हिचकिचाते हैं। जबकि जिनेश्वर भगवान्, सिद्ध अथवा अतिशय ज्ञानी महात्मा तो साधक के दृष्टि-पथ में आते ही नहीं हैं, तो फिर उनकी लज्जा अथवा भीति के द्वारा साधक अपनी सामायिक आदि की साधना में स्थिरता कैसे प्राप्त कर सकता है?

समाधान—सिद्धशिला पर सदा के लिए विराजमान समस्त सिद्ध भगवान तथा कम से कम बीस तीर्थंकर परमात्मा और दो करोड़ केवली

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

जो सदा महाविदेह क्षेत्र में विचरते ही रहते हैं, वे समस्त सर्वज्ञ, सर्वदर्शी महापुरुष एक साथ विश्व के प्रत्येक चराचर पदार्थ को प्रत्यक्ष रूप से देखते ही रहते हैं।

सामायिक करने वाले साधक को यह बात विदित ही होती है तथा सर्वविरति सामायिक के धारक मुनि तो दिन में नौ बार "करेमि भन्ते" (सामायिक प्रतिज्ञा) सूत्र का उच्चारण करते हैं, अतः उन्हें तो इस बात का ध्यान होता ही है कि अनन्त सर्वज्ञ परमात्मा तो अपनी ज्ञान-चक्षुओं से मेरी सामायिक की साधना प्रत्यक्ष रूप से देख ही रहे हैं। मेरी चर्म-चक्षु चाहे उन अतीन्द्रिय ज्ञानी भगवन्तों को नहीं देख सकती, परन्तु मुझे प्राप्त श्रुतज्ञान एवं श्रद्धा के बल से यह तो अच्छी तरह ज्ञात किया जा सकता है कि मैं सर्वज्ञों की निश्रा में ही बैठा हुआ हूँ। सर्वज्ञ अपनी ज्ञान-चक्षुओं से मुझे देख रहे हैं। बस, यह ज्वलन्त ज्ञान ही साधक को उनका भय एवं लज्जा लगाकर सदा जागृत रखता है और सामायिक आदि की साधना में स्थिरता लाता है।

आर्य देश का संस्कारी मानव किसी के देखते हुए हिंसा आदि क्रूर पाप-कृत्य करने में भी सकुचाता है, लज्जा एवं भय का अनुभव करता है। इसी प्रकार से साधु अथवा श्रावक सामायिक आदि आवश्यक धर्म-क्रियाओं में भूल करते समय केवलज्ञानी भगवानों से लज्जित एवं भयभीत हों तो क्या आश्चर्य है? जिन मनुष्यों को लोगों की लज्जा नहीं है, पाप का भय नहीं है, ऐसे निर्लज्ज, निर्दय मनुष्य जिस प्रकार खुले आम क्रूर पाप-कृत्य करने में तनिक भी नहीं हिचकिचाते, तनिक भी संकोच का अनुभव नहीं करते, उसी प्रकार से श्रद्धाहीन व्यक्ति को सर्वज्ञ शास्त्रों के प्रति सच्ची रुचि अथवा सच्ची श्रद्धा नहीं होने से सर्वज्ञोपदिष्ट सामायिक आदि धर्म की आराधना में अनेक दोष करने में भी सर्वज्ञ परमात्मा से लज्जा अथवा भीति नहीं प्रतीत होती।

वस्तुतः तो ऐसे श्रद्धाहीन, मनुष्य धर्म के अधिकारी ही नहीं हैं। "भन्ते" पद के उपर्युक्त रहस्यार्थ का अपूर्व लाभ श्रद्धाहीन व्यक्ति को कैसे प्राप्त हो सकता है? जिस प्रकार असाध्य रोगी का रोग नष्ट न हो तो उसमें वैद्य अथवा औषधि का कोई दोष नहीं है, उसी प्रकार से श्रद्धाहीन व्यक्ति को शास्त्र अथवा शास्त्राचार की कोई बात लाभदायक न हो तो उसमें उनका क्या दोष?

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

जिस व्यक्ति को निर्मल शास्त्र-चक्षु प्राप्त हुए हैं, उसे तो सम्पूर्ण विश्व के समस्त पदार्थ साक्षात् दृष्टिगोचर होते हैं।

परमात्मा का नाम स्मरण करते समय अथवा उनकी पावन प्रतिमा के दर्शन करते समय श्रद्धालु आत्मा तो साक्षात् परमात्मा के दर्शन-मिलन के समान आनन्द का अनुभव करती है। योग्य अधिकारी साधक जब-जब सामायिक को स्वीकार करता है, तब "मैं सर्वज्ञ परमात्मा की साक्षी में सामायिक कर रहा हूँ" यह भाव सदा उसके हृदय में जीवित होता है।

"भन्ते" अथवा "भगवन्" शब्दों का उच्चारण करते समय साधक का हृदय पूज्यों के प्रति अप्रतिम सम्मान-भाव से झुक जाता है, सर्वज्ञ भगवन्त के साक्षी भाव का प्रत्यक्ष अनुभव करता है। समस्त मुमुक्षु साधकों को "भन्ते" पद से इस महान रहस्य को समझकर जीवन में उससे साक्षात्कार करने के लिए उत्कंठा रखनी चाहिये।

"पाक्षिक सूत्र" में व्रतों को "आलावा" में "अरिहन्त सक्खियं सिद्ध", आदि पद बोले जाते हैं, तथा दैनिक आवश्यक आदि क्रियाओं में तथा "संथारा पोरिसी" में भी "सिद्ध साख आलोयण" पद का उच्चार करके सिद्ध भगवन्तों की साक्षी में आलोचना-क्षमापना करने का विधान है।

प्रत्येक आवश्यक आदि क्रियाओं में "भन्ते" अथवा "इच्छाकारेण संदिसह भगवन्!" आदि पद व्यापक रूप से प्रयुक्त हुए हैं। ये समस्त शास्त्रीय विधान समस्त साधकों को साधना के समय सर्वज्ञ भगवानों के नाम-स्मरण, नमस्कार और ध्यान आदि के द्वारा उनका सतत सान्निध्य रखने का गर्भित सूचित करते हैं।

"सामायिक" आदि प्रत्येक धर्मानुष्ठान की आराधना में परमात्मा की साक्षी की भावना से हृदय उल्लासमय करना चाहिये, जिससे व्रत-पालन में स्थिरता उत्पन्न होती है।

भन्ते एवं सामायिक—"भन्ते"—भदन्त, कल्याणकारी, सुखकारी सामायिक मैं स्वीकार करता हूँ। प्राकृत व्याकरण की दृष्टि से एकार लाक्षणिक होने से उसका लोप करके, "भन्त सामायिक" सामासिक शब्द प्रयुक्त करके उपर्युक्त अर्थ भी ग्रहण किया गया है।

नाम, स्थापना अथवा द्रव्य सामायिक श्रेयकारक अथवा सुखदायक नहीं बन सकती, जिससे यहाँ भाव-सामायिक को ग्रहण करने के लिये "भदन्त" विशेषण का उपयोग हुआ है।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रश्न—सावद्य व्यापार के त्याग से ही नाम आदि सामायिक का निषेध हो जाता है, क्योंकि उसमें सावद्य व्यापार का त्याग सम्भव नहीं है, अतः "भदन्त" का ग्रहण निरर्थक है।

समाधान—सावद्य योग की विरति भी नाम आदि भेद से चार प्रकार की है, उसमें भाव-सावद्य-योग विरति के ग्रहण से ही साध्य की सिद्धि हो सकती है। "भदन्त" विशेषण के द्वारा भाव-विरति का ग्रहण होता है। नाम, स्थापना और द्रव्य विरति कल्याणकारी नहीं है।

"भन्ते सामाइयं"—भगवतः सम्बन्धी सामायिकं—भगवान द्वारा बताई गई सामायिक को मैं स्वीकार करता हूँ, षष्ठी विभक्ति के अन्त में "भन्ते" पद का अर्थ होता है।

अन्यान्य अनेक दर्शनों में भी सामायिक—संयम की साधना बताई गई होती है, परन्तु उन सबको छोड़कर मैं तो जिनेश्वर भगवान द्वारा निर्दिष्ट सामायिक को ही स्वीकार करता हूँ, क्योंकि मोक्ष-प्राप्ति में यह सामायिक ही अनन्य हेतु है, अन्य दार्शनिकों द्वारा बताई गई एकाकी योग-प्रक्रिया के द्वारा मोक्ष प्राप्त होना असम्भव है।

सामायिक के विशेषण के रूप में प्रयुक्त "भन्ते" पद से सामायिक का विशेष महत्व ज्ञात होता है, अर्थात् भन्ते पद से धर्म तत्व का विशिष्ट महत्व बताया जाता है। समस्त धर्मों में सामायिक धर्म ही श्रेष्ठ है और विश्व का कोई भी धर्म इस जिनभाषित सामायिक धर्म की तुलना नहीं कर सकता। ऐसा अद्वितीय है यह सामायिक धर्म! सम्पूर्ण विश्व को अभय, सुख एवं शान्ति प्रदान करने वाला होने से यही परम श्रेष्ठ धर्म है। अन्य दर्शनों में निर्दिष्ट साधना समस्त जीवों को अभय करने में असमर्थ होने से कल्याणकारी एवं मोक्ष साधक नहीं है।

सुखलिप्सा वाले संसारी जीव अनेक प्रयास करके सुख की खोज करते हैं, परन्तु अन्य जीवों को दुःख एवं पीड़ा देकर प्राप्त किया जाने वाला सुख वास्तविक सुख नहीं है, अपितु दीर्घकालीन महादुःख का कारण है। सच्चा सुख तो समता है।

अन्य जीवों को पीड़ित किये बिना और पर-पुद्गल पदार्थ की आशा—अपेक्षा रखे बिना प्राप्त होने वाला सुख ही वास्तविक सुख है। जिनेश्वर भगवान की स्पष्ट आज्ञा है कि, "समस्त जीवों की रक्षा करनी चाहिये, हिंसा का सर्वथा त्याग और अहिंसा को पूर्णतः स्वीकार करना चाहिये। हिंसा से आत्मा विभाव में रमण करती है। और अहिंसा से स्वभाव में

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

रमण करती है। यह विभाव-रमणता सर्वथा त्याज्य है और स्वभाव-रमणता ही उपादेय है।"

विश्व के समस्त जीवों को अभय बनाकर सुखी करने की परमात्मा की आज्ञा का पूर्णतः पालन केवल मानव ही कर सकता है। समस्त जीवों की सदा जीवित रहने की और सुखी रहने की इच्छा को समझकर तदनुरूप व्यवहार करने की बुद्धि एवं क्षमता केवल मानव को ही प्राप्त है।

मानव सर्वविरति स्वीकार करके प्रत्येक जीवात्मा को अभय कर सकता है। उपयोग-शून्य सामायिक नाम मात्र की सामायिक है। उक्त सामायिक मोक्ष-साधक नहीं हो सकती।

वास्तविक सुखाभिलाषी मुमुक्षु आत्माओं को जिनेश्वर भगवान द्वारा बताई गई भाव-सामायिक को स्वीकार करके उपयोगपूर्वक उसका पालन एवं उसकी रक्षा करनी चाहिये।

सामायिक के द्वारा समस्त जीवों के कल्याण एवं सुख को सिद्ध करने की शक्ति प्रकट होती है।

इस प्रकार "भन्ते" पद के द्वारा देव, गुरु, धर्म, आत्मोपयोग एवं भाव-सामायिक आदि का महत्व बताया गया है, तथा देव-गुरु के प्रति प्रीति-भक्ति, उनकी आज्ञा का पालन और उससे प्राप्त होने वाली असंग दशा को भी गर्भितरूप में सूचित किया गया है।

इन समस्त बातों पर सूक्ष्म रूप से चिन्तन करने से समस्त जिनशासन का द्वादशांगी का सार "करेमि भन्ते" में समाविष्ट है, यह स्पष्ट ज्ञात हो सकता है।

सामायिक पद का रहस्य—

"सामायिक" शब्द के विविध अर्थ बताकर शास्त्रों में "सामायिक" का गूढ़ रहस्य समझाया गया है जिस पर संक्षिप्त चिन्तन हम यहाँ करेंगे। "समाय" एवं "सामाय" पद को स्व अर्थ में "इक" प्रत्यय लगने से "सामायिक" शब्द बनता है। "सम" एवं "साम" शब्द के अनेक अर्थ हो सकते हैं।

(१) सम=राग-द्वेष रहित अवस्था।

(२) सम=सम्यक्त्व, ज्ञान और चारित्र, मध्यस्थता, समता, प्रशम।

(३) सम=सर्वत्र समान व्यवहार।

साम—(१) समस्त जीवों के प्रति मैत्री भाव, (२) समस्त जीवों को आत्म-वत् मानकर पीड़ा का परिहार, (३) शान्ति, नम्रता।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

आय = प्राप्ति, लाभ ।

सम एवं साम की जिसके द्वारा प्राप्ति हो अथवा जिसमें प्राप्ति हो वह "सामायिक" कहलाती है ।

"सामायिक" शब्द की अनेक प्रकार से व्युत्पत्ति होती होने से उसमें विविध अर्थ समाविष्ट हैं । संक्षेप में हम कुछ अर्थ देखें—

सामायिक अर्थात् राग-द्वेष रहित अवस्था ।

सामायिक अर्थात् ज्ञान, दर्शन और चारित्र का पालन ।

सामायिक अर्थात् सर्वत्र समान व्यवहार ।

सामायिक अर्थात् समस्त जीवों के प्रति परम मैत्री भाव ।

सामायिक अर्थात् समता—समभाव की प्राप्ति ।

निरुक्त विधि से (सामायिक शब्द की) व्युत्पत्ति करने से सामायिक का यह अर्थ भी होता है कि "साम, सम एवं सम्म" इन तीनों को "इक" अर्थात् आत्मा में प्रवेश कराना "सामायिक" है ।

तीन प्रकार की सामायिक—

(१) साम--स्व[1] आत्मा की तरह पर को कष्ट नहीं पहुँचाना ।

(२) सम—राग-द्वेष के जनक प्रसंगों में भी मध्यस्थ रहना, अर्थात् सर्वत्र आत्मा का समान व्यवहार ।

(३) सम्म—सम्यग् ज्ञान, दर्शन और चारित्र का परस्पर आयोजन एकात्म होना अर्थात् तीनों की एकता होना ।

ये तीनों आत्मा के अतीन्द्रिय परिणाम हैं, उनका स्वरूप स्पष्ट रूप से ज्ञात हो, अतः द्रव्य के साथ उनकी तुलना की जाती है—

साम—मधुर परिणामस्वरूप है, जैसे शक्कर आदि द्रव्य, और वह सम्यक्त्व सामायिक का सूचक है ।

सम—स्थिर परिणामस्वरूप है, जैसे तुला (तराजू), और वह श्रुत सामायिक को द्योतक है ।

सम्म—तन्मय परिणामस्वरूप है, जसे क्षीर-शक्कर का मिलन, और वह चारित्र सामायिक का सूचक है ।

---

१ (क) आत्मोपमया परेषां दुःखस्याकरणं—"साम"

(ख) रागद्वेष मध्यवर्तित्वम्, सर्वत्रात्मनस्तुल्यरूपेण वर्तनम्—"सम"

(ग) सम्यग्ज्ञान-दर्शन-चारित्र त्रयस्य परस्पर योजनं—"सम्म"

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

इन तीनों—साम, सम और सम्म—परिणामों को (सूत के धागे में मौती पिरोने की तरह) आत्मा में पिरोना, प्रकट करना ही सामायिक है। समता परिणाम स्वरूप सामायिक अतीन्द्रिय होने से केवल अनुभवगम्य है, जिसकी प्राप्ति से आत्मा को जो आनन्द प्राप्त होता है, उसके तारतम्य से उसके अनेक भेद किये जा सकते हैं।

(१) **साम सामायिक**—साम[1] मधुर परिणामी सामायिक। साम अर्थात् मैत्री भाव। समस्त जीवों के प्रति मैत्री भाव प्रकट करने से अपने सुख-दुःख की तरह अन्य जीवों के सुख-दुःख का विचार भी उत्पन्न होता हैं। अपना दुःख निवारण करने के साथ अन्य व्यक्ति के दुःख का निवारण करने का भी प्रयत्न होता है, तथा दूसरों के अपराध क्षमा करने और अपने अपराधों की क्षमा याचना करने की मन में प्रेरणा उत्पन्न होती है।

"योगदृष्टि समुच्चय" में बताई गई पाँच दृष्टियों में प्रकट होने वाले समस्त गुणों, योग के बीजों का भी इस अवस्था में आविर्भाव होता है। यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, इच्छा एवं प्रवृत्तियोग, अध्यात्म एवं भावना योग तथा प्रीति, भक्ति, अनुष्ठान आदि का अभ्यास किया जाये तो ही उपर्युक्त "मधुर परिणाम" स्वरूप सामायिक प्रकट होती है, अथवा प्रकट सामायिक स्थायी होकर उत्तरोत्तर विकसित होती रहती है।

शास्त्रों में कहा भी है कि "सामायिक" द्वादशांगो का संक्षिप्त रूप है, षड् आवश्यक का मूल है। शेष आवश्यक सामायिक के ही अंग हैं, अर्थात् एक सामायिक में शेष आवश्यक के अनुष्ठान भी गौण भाव से समाविष्ट होते हैं। श्री आचारांग सूत्र में सामायिक का स्वरूप पाँच आचार आदि भेदों के द्वारा स्पष्ट किया गया है।

दया-प्रधान जिन-शासन समस्त जीवों को "अभय" करने की सर्व प्रथम शिक्षा देता है।

"शस्त्र परिज्ञा" अध्ययन में कहा भी है कि "समस्त जीवों को आत्मवत् मानकर उनकी भी रक्षा कर। जिस प्रकार तू अपनी आत्मा को दुःख से मुक्त करके सुखी करना चाहता है, उसी प्रकार से तू अन्य समस्त स्थावर-जंगम जीवों को भी दुःख से मुक्त कर। जिस प्रकार तुझे मृत्यु का

---

१ महुर परिणाम साम, समं तुला सम्म खीरखंड जुइ।
दोरे हारस्स चिई इगमेवाइं तु दव्वम्मि॥ (आवश्यकनिर्युक्ति)

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

भय भयभीत करता है, उसी प्रकार से समस्त जीव भी मृत्यु से भयभीत होते हैं। अतः किसी भी जीव की हिंसा हो अथवा उसे पीड़ा हो ऐसी प्रवृत्ति तू मत कर।"

अन्य जीवों को भय मुक्त करने से ही "अभय" प्राप्त हो सकता है। जन्म-मरण के भय से मुक्त होने के अभिलाषी व्यक्ति को अन्य जीवों के जन्म-मरण का निमित्त बनना छोड़ना हो पड़ेगा, और यह अहिंसा पूर्णतः पालन किये बिना असम्भव है। अहिंसा, अभय, अमारी, मैत्री, करुणा, क्षमा ये सब अहिंसा के पर्यायवाची हैं। समस्त जीवों को अभय करके अभय होने के लिये ही अहिंसा को प्रधानता दी गई है। अहिंसा के पालन से चित्त निर्मल होता है, निर्मल चित्त में आत्मज्ञान प्रकट होता है और आत्मज्ञान से समभावरूप सामायिक प्राप्त होती है तथा आत्मा में शुद्ध स्वरूप की अनुभूति भी इस अवस्था में ही होती है। इस सामायिक में चित्त की "श्लिष्ट अवस्था" होती है, तथा मनोगुप्ति का प्रथम भेद "विमुक्त कल्पना—अशुभ कल्पना से विमुक्त मन" भी घटित किया जा सकता है।

शास्त्रों में "चेतना" को जीव का सर्वसामान्य लक्षण गिना गया है। उसकी सत्ता सिद्ध एवं संसारी समस्त जीवों पर सर्वदा होती है। सिद्ध भगवानों में यह "चेतना" पूर्ण शुद्ध (स्वरूप को प्राप्त) होती है, जबकि संसारी जीवों की चेतना के तीन प्रकार हैं।

चेतना के तीन प्रकार—

(१) कर्म चेतना—द्रव्यकर्म—ज्ञानावरणीय आदि, भावकर्म रागद्वेष आदि परिणाम।

(२) कर्मफल चेतना—सुख दुःख का अनुभव।

(३) ज्ञान चेतना—सच्चिदानन्दमयस्वरूप, उपयोगात्मक आत्म-परिणाम, कर्म का क्षय, उपशम अथवा क्षयोपशम के अनुसार ज्ञान चेतना के अनेक भेद किये जा सकते हैं। समता परिणाम स्वरूप सामायिक भी "ज्ञान चेतना" स्वरूप है। साम, सम और सम्म रूप तीनों प्रकार की सामायिक का "ज्ञान चेतना" में अन्तर्भाव हो जाता है।

(२) "सम" सामायिक—सम—तुल्य परिणामस्वरूप सामायिक, प्रत्येक प्रसंग में अर्थात् राग-द्वेष की भावना उत्पन्न होने की सम्भावना हो अथवा मान-अपमान के संयोग उत्पन्न होने की सम्भावना हो उस समय चित्त को मध्यस्थ रखना, शत्रु-मित्र, तृण-मणि अथवा सुख-दुःख के प्रति

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

भी समभाव एवं समदृष्टि रखने का नाम ही तुल्य-परिणामरूप सामायिक है।

इष्ट-अनिष्ट पदार्थों के संयोग में होती राग-द्वेष की वृत्तियाँ अज्ञान के कारण होती हैं। श्रुतज्ञान के—सम्यग्ज्ञान के सतत अभ्यास से विवेक-दृष्टि जागृत होने पर पुद्गल पदार्थों में होने वाली इष्ट-अनिष्ट की कल्पना दूर हो जाती है और चित्त समवृत्ति धारण करता है, जिसके द्वारा शुभ ध्यान में स्थिरता आती है और ध्यान में एकाग्रता आने से निश्चल-अनाहत समता प्रकट होती है।

इस प्रकार श्रुतज्ञान के अभ्यास से ध्यान की वृद्धि और ध्यान से समता की वृद्धि होती है। ऐसे समता के परिणाम को आत्मा में प्रविष्ट कराने को "सामायिक" कहते हैं। यहाँ वचन अनुष्ठान और शास्त्रयोग की प्रधानता होती है। कहा भी है कि शास्त्र के सम्मुख जाने से अर्थात् शास्त्रानुसार अनुष्ठान करने से वीतराग परमात्मा की आज्ञा-पालन-स्वरूप परम-भक्ति होती है, जिसके प्रभाव से समस्त योगों की सिद्धि होती है, समरस भाव प्राप्त होता है उसे "सामायिक" भी कहते हैं, वही समतायोग है। चित्त की तन्मयता और मनोगुप्ति का दूसरा प्रकार (समता में प्रतिस्थापन) भी इस "सामायिक" वाले पर घटित हो सकता है। "योगसार" में भी कहा है कि उत्तम योगियों को सदा समस्त प्रकार की मानसिक, वाचिक अथवा कायिक प्रवृत्तियों में मन, वचन और काया से साम्य रखना चाहिए; क्योंकि समस्त शास्त्रों के अध्ययन एवं श्रमण जीवन के समस्त सदनुष्ठानों आदि का विधान "समभाव" प्राप्त करने के लिये ही है।

जिस प्रकार चन्दन आदि वृक्षों का छेदन किया जाये तो वे क्रोधित नहीं होते और घोड़ों आदि का आभूषणों से शृंगार किया जाये तो वे प्रसन्न नहीं होते, उसी प्रकार से मुनि भी सुख-दुःख के प्रसंगों में राग-द्वेष नहीं करते, तब समता प्रकट होती है।

जिस प्रकार सूर्य मनुष्यों को उष्णता प्रदान करने के लिये तथा चन्द्रमा सन्ताप नष्ट करके शीतलता प्रदान करने के लिए श्रम करता है, उसी प्रकार मुनिगण को समता प्राप्त करने के लिये प्रयत्न करना चाहिये।

मैत्री आदि भावना में लीन बना मुनि अपनी आत्म-सत्ता को समस्त जीवों से अभिन्न जानकर परम शान्तरस में तन्मय रहता है, जिससे उसमें कदापि संक्लेश उत्पन्न नहीं होता, अर्थात् समस्त आत्माओं के साथ चेतनता से समानता की भावना से युक्त मुनि उन्हें अपनी आत्मा के समान मानता

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

है, दूसरों के सुख-दुःखों को वह अपने सुख-दुःख समझकर किसी को भी तनिक भी पीड़ा हो जाये वैसी वह अपने मन, वचन, काया से कोई प्रवृत्ति नहीं करता, अन्य व्यक्तियों से वैसी कोई प्रवृत्ति नहीं कराता और यदि कोई वैसी प्रवृत्ति करता हो तो उसे अनुमोदन नहीं देता।

इस प्रकार समस्त जीवों के साथ आत्मवत् प्रदर्शन का नाम "सम" है। ऐसे परिणाम आत्मा में प्रकट कराने को "सामायिक" कहते हैं। इस सामायिक का धारक मुनि समस्त धन-धान्य आदि अचेतन पदार्थों के प्रति भी उदासीन होता है, तथा समस्त नयों के प्रति मध्यस्थ होता है।

प्रत्येक नय स्व-स्व विषय का प्रतिपादन करने में तत्पर होता है जिससे वह सत्य होता है और अन्य नयों की मान्यता से तुलना करने में असत्य सिद्ध होता है। ऐसे परस्पर विरोधी नयों के विषय में भी जो निष्पक्ष होता है, वह महामुनि "मध्यस्थ" कहलाता है।

माध्यस्थ का स्वरूप - मिथ्या-मिथ्या तर्क-वितर्क करने से चित्त अधिक चंचल होता है, तुच्छ कदाग्रही व्यक्ति असत्य को सत्य सिद्ध करने के लिए अनेक कुयुक्तियों का प्रयोग करता है; स्वयं सत्य की ज्योति से वंचित रहता है और भोले मनुष्यों को भी भ्रमित करने का पाप सिर पर लेता है, परन्तु मध्यस्थ व्यक्ति का चित्त स्थिर होता है। वह सदा युक्ति का ही अनुकरण करता है अर्थात् वह युक्ति-संगत तर्क ही स्वीकार करता है। तत्व-विषय में वह कदापि दुराग्रह नहीं करता।

जिस प्रकार नदियों के समस्त भिन्न-भिन्न मार्ग अन्त में सागर में विलीन हो जाते हैं, तब उनमें किसी प्रकार की भिन्नता नहीं रहती, कोई भेद नहीं रहता, उसी प्रकार से अपुनर्बन्धक, सम्यग्दृष्टि, देशविरति अथवा सर्वविरति (जिनकल्पी अथवा स्थविरकल्पी) आदि मध्यस्थ पुरुषों के भूमिका-भेद से भिन्न-भिन्न प्रतीत होने वाले मार्ग भी परब्रह्म (केवलज्ञान) को प्राप्त कराने में सहायक होते हैं, तब वे एक हो जाते हैं, इस कारण मध्यस्थ मुनि को समस्त मुक्ति साधक मार्गों के प्रति समभाव होता है।

मध्यस्थ मुनि राग-वश अपने मत के शास्त्र स्वीकार नहीं करता अथवा द्वेष-वश वह अन्य मत के शास्त्रों का बहिष्कार नहीं करता, परन्तु मध्यस्थ भाव से उसे जो शास्त्र अथवा तत्व युक्तिसंगत (सुसंगत) प्रतीत होते हैं उन्हें ही वह स्वीकार करता है। कहा भी है कि "समस्त नयों का परस्पर अनेक प्रकार का विरोधी वक्तव्य सुनकर समस्त नयों से समस्त विशुद्ध तत्व को ग्रहण करने वाला मुनि चारित्र-गुण में लीन होता है।"

(अनुयोग द्वार)

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

भिन्न-भिन्न नय परस्पर वाद-विवाद की विडम्बना से व्याकुल होते हैं, परन्तु मध्यस्थता के सुख का आस्वादन करने वाला ज्ञानी समस्त नयों का आश्रित होता है।

विशेष रहित सामान्य से निर्दिष्ट वचन एकान्त से अप्रमाणभूत अथवा एकान्त से प्रमाणभूत नहीं है, जिससे पर-मत के सिद्धान्तों के सद्वचन भी विषय के परिशोधन से प्रमाणभूत हो सकते हैं।

"षोडशक" में भी कहा है कि अन्य शास्त्रों के द्वारा प्ररूपित विषयों से भी द्वेष करना उचित नहीं है, परन्तु उक्त विषय पर यत्नपूर्वक चिन्तन करना चाहिये; क्योंकि जिन-प्रवचन से भिन्न अन्य दर्शनों की समस्त मान्यताएँ सद्वचन नहीं है, परन्तु जो मान्यताएँ प्रवचन के अनुसार होती हैं वे ही सद्वचन हैं। जिस प्रकार अन्य दर्शन का वचन विषय परिबोधक नय से योजित हो तो वह भी अप्रमाणभूत हो सकता है। इस प्रकार स्याद्वाद की योजना से समस्त नयों का रहस्य ज्ञात होता है। जो व्यक्ति सिद्धान्तों का रहस्य ज्ञात किये बिना केवल सूत्र के अक्षर ज्ञान का ही अनुकरण करता है, उसका तप, संयम आदि अनुष्ठान प्रायः अज्ञान-तप ही माना जायेगा।

समस्त नयों के ज्ञाता मुनि निश्चय, व्यवहार अथवा ज्ञान-क्रिया के विषय में एक पक्षीय आग्रह को छोड़ कर ज्ञान-गरिष्ठ शुद्ध भूमिका पर आरूढ़ होकर केवल पूर्ण स्वरूप का लक्ष्य रखकर परमानन्द का अनुभव करते हैं। इस प्रकार समस्य नय विषयक माध्यस्थ भो चित्त को प्रशान्त करने में सहायक होते हैं।

आत्म-चिन्तन एवं कर्म-विपाक के चिन्तन से भी समभाव प्राप्त किया जा सकता है। विश्व में दृष्टिगोचर होती विविधता एवं विचित्रता का कारण केवल कर्म है। प्रत्येक जीव स्वकृत कर्मवश होकर शुभ-अशुभ फल भोगता है। कर्म-परतन्त्र जीवों के प्रति मध्यस्थ पुरुष कदापि राग अथवा द्वेष नहीं रखते, परन्तु कर्म की विचित्रता का विचार करके सदा समभाव रखते हैं।

कर्माधीन जीव को इस संसार में राग-द्वेष की वृत्तियाँ उत्पन्न हो जायें ऐसे अनेक प्रसंग एवं निमित्त प्राप्त होते हैं, परन्तु यदि चित्त में शास्त्र ज्ञान के भाव भरे हुए हों, सद्गुरु की उपासना करके विधिपूर्वक शास्त्राध्ययन किया हुआ हो, उसके रहस्यों का गूढ़ ज्ञान प्राप्त किया हुआ हो तो कोई भी प्रसंग अथवा निमित्त चित्त को चंचल बनाने में समर्थ नहीं होता।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

जिनके चित्त शास्त्रों के अध्ययन, मनन एवं परिशीलन से निर्मल हो गये हैं वे मुनि जड़ एवं चेतन पदार्थों के विविध स्वरूपों एवं उनके स्वभाव से परिचित होते हैं, जिससे वे इष्ट-अनिष्ट पदार्थों के संयोग-वियोग में सन्तुलन बनाये रख सकते हैं, मध्यस्थता को स्थायी रख सकते हैं।

आगम सम्बन्धी ज्ञान से परिणत बने मुनियों की चित-वृत्ति अत्यन्त निर्मल एवं स्थिर होती जाती है, जिससे वे आत्मा एवं परमात्मा के ध्यान में तन्मय हो सकते हैं और ऐसे ध्यानमग्न मुनि को समता प्राप्त होती है।

ध्यानाध्ययनाभिरतिः प्रथमं प्रश्चात् तु भवति तन्मयता।
सूक्ष्मार्थालोचनया संवेगः स्पर्शयोगश्च ॥—(षोडषक)

संयम अंगीकार करने वाले साधु की सर्वप्रथम शास्त्राध्ययन और ध्यान-योग में निरन्तर प्रवृत्ति होती है। तत्पश्चात् वह दोनों में उत्तरोत्तर तन्मय होता रहता है, तथा "तत्वार्थ" के सूक्ष्म चिन्तन से तीव्र संवेग एवं स्पर्शयोग भी प्रकट होता है।

इस प्रकार समपरिणामरूप सामायिक में शास्त्र योग (वचन अनुष्ठान) एवं ध्यानयोग की प्रधानता होती है, क्योंकि शास्त्राध्ययन एवं ध्यानाभ्यास के बिना तात्विक समता प्रकट नहीं होती।

अध्यात्म एवं योगविषयक शास्त्रों के अध्ययन, मनन से समस्त जीवों के प्रति समानता एवं आत्मा के पूर्ण शुद्ध स्वरूप का ज्ञान प्राप्त होता है जिससे उसे आत्मसात करने की कला प्राप्त होती है। आगम सम्बन्धी ज्ञान से द्रव्यानुयोग विषयक सूक्ष्म तत्व-दृष्टि प्राप्त होने पर धर्म-ध्यान एवं शुक्लध्यान की क्षमता प्रकट होती है।

स्याद्वाद एवं कर्मवाद के बोध से समस्त जीवों एवं समस्त दर्शनों के प्रति समदृष्टि एवं संसार की विविध विचित्रताओं के मूलभूत कारणों का ज्ञान होने पर सत्यदृष्टि खुलती है।

तराजू के दोनों पलड़ों के समान सर्वत्र, सर्वदा समदृष्टि एवं समवृत्ति प्रकट करने के लिये सत्शास्त्रों के अध्ययन, मनन एवं ध्यान का सतत सेवन करना आवश्यक है।

शास्त्रोक्त सदनुष्ठान के सेवन से अरिहन्त परमात्मा की आज्ञा का पालन होता है, जिसके द्वारा समस्त ध्यान आदि कार्यों की सिद्धि होती है।

कहा भी है कि "आगम की आराधना से ही श्रुत एवं चारित्र-धर्म प्राप्त होता है। शास्त्र विरुद्ध व्यवहार से अधर्म होता है।"

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

धर्म का परम रहस्य, सर्वस्व सार अथवा धर्म की मूलभूत नींव एकमात्र "जिनागम" है। जिनागम द्वारा बताई राह पर प्रयाण किये बिना समता अथवा मुक्ति कदापि प्राप्त नहीं हो सकती।

प्रश्न—समस्त अनुष्ठानों को गौण मान कर आगम को इतनी अधिक प्रधानता देने का क्या कारण है ?

समाधान—इस विश्व में एक जिनागम के द्वारा ही समस्त भव्यात्माओं को इतनी भव्य प्रेरणा प्राप्त होती है कि जिससे भव्य जीव शुभ प्रवृत्ति करने और अशुभ (हिंसा आदि) से निवृत्त होने का प्रयास करते हैं। शुभ के लिए प्रेरक और अशुभ से निवर्तक होने से "जिनागम" को प्रधानता दी गई है।

प्रश्न—"जिनागम" की इतनी अपूर्व महिमा क्यों है ?

समाधान—"जिनागम" तत्त्वतः जिनस्वरूप है, जिनेश्वर की वाणी (उपदेश) जिनेश्वर तुल्य है। उसकी आराधना, अर्थात् आगम-कथित अनुष्ठान के सेवन से ही समस्त प्रकार की सिद्धियाँ सिद्ध होती हैं। इस प्रकार की अटूट श्रद्धा से सम्मानपूर्वक शास्त्र वचनों का पालन करने से अपने हृदय में जिन-वचन के स्वरूप में तत्त्वतः जिनेश्वर भगवान ही विराजमान होते हैं।

अचिन्त्य चिन्तामणि जिनेश्वर भगवान ही समस्त आत्माओं के समस्त शुभ मनोरथ पूर्ण करने वाले हैं। उनके द्वारा कथित आगम-ग्रन्थों के अनुसार जीवन यापन करने वाले सचमुच जिनेश्वर भगवान के आज्ञापालक हैं। जिनाज्ञा के पालक भव्यात्मा को आगम एवं उनके प्रणेता के प्रति अखण्ड आदर-भाव होने से "समरस" की प्राप्ति होती है जो योगशास्त्र में "समापत्ति" कहलाती है।

"समापत्ति" के समय ध्याता को ध्यान के द्वारा ध्येय के साथ तन्मयता हो जाती है, "मुझमें भी ऐसा ही परमात्म स्वरूप विद्यमान है" कि "वह परमात्मा मैं ही हूँ" इस प्रकार के भेदरहित भाव से युक्त साधक को ही समापत्ति (समरस) की प्राप्ति होती है, जो महायोगियों की माता कहलाती है और वह मोक्ष-सुख के अपूर्व फल का उपहार प्रदान करने वाली है।

यह "समापत्ति" (समरस) "सम सामायिक" स्वरूप है। उसके निरन्तर सेवन से अनालम्बनयोगरूप "सम सामायिक" प्रकट होती है जिसके द्वारा क्रमशः केवलज्ञान एवं मोक्ष-पद प्राप्त होता है।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

(३) **सम्म सामायिक का स्वरूप**—सम्यक् परिणाम स्वरूप इस सामायिक में सम्यक्त्व, ज्ञान और चारित्र का परस्पर सम्मिलन होता है। दूध में शक्कर की भांति आत्मा में रत्नत्रयी का एकीकरण होना ही "सम सामायिक" है।

उपर्युक्त साम एवं सम परिणाम रूप सामायिक के सतत अभ्यास से ही इस प्रकार की "स्वभाव तन्मयता" प्रकट होती है, जिसे चारित्र समाधि अथवा प्रशान्तवाहिता आदि नामों से सम्बोधित किया जा सकता है।

इस सामायिक में शान्ति (समता) का अस्खलित प्रवाह होने लगता है, चन्दन की सुगन्ध की तरह समता आत्मसात् हो जाती है।

कहा भी है कि "जिस मुनि को आत्मा के शुद्ध स्वरूप का दर्शन और विशेष ज्ञान हुआ हो अर्थात् "मेरी आत्मा भी अनन्त ज्ञान आदि गुण-पर्यायों से युक्त है।" इस प्रकार की श्रद्धा और ज्ञान प्राप्त होने के साथ आत्म-स्वभाव में स्थिरता, रमणता, तन्मयता प्राप्त हुई हो उसे ही आत्मिक आनन्द की अनुभूति होती है और उसे ही "सम्म सामायिक" प्राप्त हुई होती है।"

योग की सातवीं और आठवीं दृष्टि में प्राप्त होने वाले समस्त गुण इस सामायिक की भूमिका को अधिक स्पष्ट रूप से समझाने में सहायक होते हैं। ध्यान की प्रीति, प्रतिपत्ति, शमयुक्तता, समाधि-निष्ठता, असंग अनुष्ठान, आसंग आदि दोषों का अभाव, चन्दन-गन्ध सदृश सात्मीकृत प्रवृत्ति, निरतिचारिता आदि सद्गुण भी इस सामायिक के धारक साधक को प्राप्त हो चुके होते हैं।

ज्ञान-सुधा के सागर तुल्य, परब्रह्म, शुद्ध ज्योतिस्वरूप, आत्म-स्वभाव में लीन मुनि को अन्य समस्त रूप-रस आदि पौद्गलिक विषयों की प्रवृत्ति विष के समान भयंकर एवं अनर्थकारी प्रतीत होती है।

एक बार अन्तरंग सुख का रसास्वादन करने के पश्चात् बाह्य सुख, समृद्धि, सिद्धि एवं ख्याति की प्रवृत्ति के प्रति उदासीनता हो जाती है।

विश्व के समस्त चराचर पदार्थों का स्याद्वाद दृष्टि से अवलोकन करने वाला आत्म-स्वभाव में मग्न मुनि किसी पदार्थ का कर्त्ता नहीं होता, केवल उसकी साक्षी होती है, अर्थात् तटस्थता से वह समस्त तत्वों का ज्ञाता होता है, परन्तु वह कर्त्ता होने का अभिमान नहीं करता। "विश्व

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

का प्रत्येक द्रव्य स्व-स्व परिणाम का ही कर्त्ता है, परन्तु पर-परिणाम का कोई कर्त्ता नहीं है।" इस भावना से समस्त भावों का कर्तृत्व मिटाकर साक्षी भाव रखने का अभ्यास किया जा सकता है।

सम्म सामायिकवान् साधु के चारित्र-पर्याय की ज्यों-ज्यों वृद्धि होती जाती है, त्यों-त्यों उसके चित्त-सुख (तेजोलेश्या) की मात्रा में भी वृद्धि होती जाती है। वर्ष भर के दीक्षा पर्याय वाले मुनि का आत्मिक सुख (समता सुख) अनुत्तरवासी देवों के दिव्य सुख को भी मात करने वाला विशिष्ट कोटि का होता है।

स्वयंभूरमण समुद्र के साथ प्रतिस्पर्द्धा करने वाले समता रस के सागर में डुबकियाँ लगाते मुनि की उपमा देने योग्य कोई पदार्थ इस विश्व में विद्यमान नहीं है। ऐसा निरुपम है यह समता सुख और समता का रसास्वादन करने वाले मुनि का जीवन।

इस सामायिक में "सामर्थ्य योग" एवं "असंग अनुष्ठान" की प्रधानता होती है।

सामायिक भाव में मुनिगण ज्ञानामृत का पान करके, क्रियारूपी कल्पलता के मधुर फलों का भोजन करके तथा समता भावरूपी ताम्बूल का आस्वादन करते हुए सदा परम तृप्ति अनुभव करते हैं। इस सामायिक में चारित्र प्रधान होता है। तन्मयता स्वरूप इस सामायिक में "निरालम्बन योग" का अन्तर्भाव है।

"योगविंशिका" ग्रन्थ में निरालम्बन योग विषयक विस्तृत विवेचन है, जिसमें से तनिक चिन्तन हम यहाँ करेंगे।

"योगविंशिका" में अनालम्बन योग—अरूपी सिद्ध परमात्मा के केवल-ज्ञान आदि गुणों के साथ समापत्तिरूप ध्यान सूक्ष्म एवं अतीन्द्रिय होने से "अनालम्बन योग" है।

"योगविंशिका" के विवरण में पूज्य महोपाध्याय श्री यशोविजयजी महाराज इसी विषय को अधिक स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि—

समापत्ति अर्थात् ध्याता, ध्येय एवं ध्यान की एकता।

ध्याता अन्तरात्मा है, ध्येय अरिहन्त, सिद्ध परमात्मा के केवलज्ञान आदि गुण हैं और ध्यान विजातीय ज्ञानान्तर रहित सजातीय ज्ञान की धारा है। इन ध्याता आदि तीनों को एकता समापत्ति अर्थात् तन्मयता रूप ध्यान (योग) है, यही "अनालम्बन योग" कहलाता है।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

जैन परिभाषा में योग और ध्यान प्रायः एक ही अर्थ में प्रयुक्त होते हैं।

यहाँ ध्येय-विषयक आलम्बन दो प्रकार का होने से ध्यान के भी मुख्यतः दो भेद बताये गये हैं—(१) आलम्बनध्यान और (२) निरालम्बन ध्यान।

आलम्बन के मुख्य दो भेद हैं—(१) रूपी और (२) अरूपी।

(१) रूपी आलम्बन—इन्द्रियगोचर हो सके ऐसी स्थूल वस्तु जो आँखों से देखी जा सके जैसे—जिन-प्रतिमा, समवसरण में स्थिर जिनेश्वर भगवान उनका ध्यान "रूपी आलम्बन" है। उसके अधिकारी चतुर्थ से छठे गुणस्थानक वाले जीव हैं।

(२) अरूपी आलम्बन—इन्द्रियों को अगोचर सूक्ष्म वस्तु जो आँखों से देखी न जा सके जैसे—केवलज्ञान आदि गुण, और उनका ध्यान "निरालम्बन" योग है।

ज्ञान आदि गुणों का आलम्बन सूक्ष्म एवं अतीन्द्रिय होने से उसे "निरालम्बन" कहते हैं। इसके अधिकारी सातवें से बारहवें गुणस्थानक वाले साधु भगवान होते हैं।

दूसरे प्रकार से निरालम्बन योग—संसारी व्यक्ति के औपाधिक स्वरूप को त्याग कर स्वाभाविक स्वरूप का परमात्मा के साथ तुलनात्मक ध्यान करना भी "निरालम्बन योग" है।

निरालम्बन ध्यान आत्मा के तात्विक स्वरूप को देखने की इच्छा, अखण्ड लालसा स्वरूप है, अथवा परमात्म-तत्व के दर्शन की तीव्र इच्छा अथवा आत्म-साक्षात्कार की अदम्य लगन स्वरूप है।

"षोडशक" में भी कहा है कि, "जब तक साक्षात् परमात्मा के दर्शन न हों तब तक साधक की सामर्थ्ययोग के द्वारा परमात्मा-दर्शन की असंगभाव पूर्वक जो तीव्र अभिलाषा होती है उसे "अनालम्बन योग" कहते हैं। यद्यपि उस समय परमार्थ से तो साधक की परमात्म-तत्व में स्थिरता नहीं होती, फिर भी ध्यान के द्वारा परमात्म-तत्व के दर्शन की प्रवृत्ति चलती रहती है और सर्वोत्तम योग निरोधरूप अवस्था से पूर्व उसकी उपस्थिति अवश्य होती है, अतः वह "अनालम्बन योग" कहलाता है, जो अरिहन्त परमात्मा के सालम्बन ध्यान का प्रधान फल है।

"सतत अभ्यास के परिणाम में यह सालम्बन ध्यान जब परिणत

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

होता है अर्थात् प्रकर्ष कोटि का होता है, तब साधक की आत्मा पाप-रहित मोहरहित एवं शुक्ल (निर्मल) ज्ञानोपयोग युक्त होती है, जिससे वह मुक्ति के सर्वथा समीप होती है, तथा फलावंचक योग के प्रभाव से "प्रातिभज्ञान" प्राप्त होने से तत्वदृष्टियुक्त होती है।"

इस सालम्बन ध्यान को "अपरतत्व" (अपरब्रह्म) भी कहते हैं, जिसके बल से परतत्व-सिद्धस्वरूप प्रकट होता है।

ध्यान आदि साधना में अहर्निश तत्पर रहने वाले समस्त योगियों को इस सालम्बन ध्यान रूप अपरतत्व के प्रभाव से ही "परतत्व" प्राप्त होता है, उसके बिना नहीं हो सकता।

जिस परतत्व-सिद्धस्वरूप की अपूर्व महिमा है, अचिन्त्य प्रभाव है, वही सारभूत सत्य है, प्रकृष्ट है, महान है। सिद्धस्वरूप के दर्शन से समस्त वस्तुओं के वास्तविक दर्शन होते हैं और उसके प्रभाव से परतत्व विषयक ध्यान रूप "अनालम्बनयोग" की भी तीनों लोकों में प्रधानता (प्रकृष्टता) है, अर्थात् अनालम्बन योग तुल्य संसार में अन्य कोई श्रेष्ठ योग नहीं है, वही समस्त योगों का सम्राट है।

इस प्रकार परमात्मा के सालम्बन ध्यान के प्रकृष्ट फल के रूप में जीव को प्रातिभज्ञान एवं तत्व दर्शन (आत्मानुभव) होता है, जिसके योग से क्रमशः अनालम्बनयोग, केवलज्ञान और सिद्ध अवस्था प्राप्त होती है।

"अनालम्बनयोग" धारावाही प्रशान्तवाहिता नामक चित्त है और वह यत्न के अतिरिक्त स्मरण (स्मृति) की अपेक्षा से स्वरस (सहज स्वभाव) से ही सदृश धारा में प्रवृत्त होता है—यह समझें।"

—(ज्ञानसार, स्वोपज्ञ भाषार्थ)

पूज्य उपाध्यायजी महाराज ने उपर्युक्त पंक्तियों में "अनालम्बन योग" को स्पष्ट किया है।

अनालम्बन योग असंग अनुष्ठानस्वरूप है जो प्रीति, भक्ति और वचन अनुष्ठान के सतत अभ्यास से अर्थात् सालम्बन ध्यान के सतत अभ्यास से प्रकट होता है।

असंग अनुष्ठान का लक्षण बताते हुए कहा भी है कि अत्यन्त अभ्यास के द्वारा चन्दन और सुगन्ध की तरह सहज भाव से अर्थात् प्रयत्न किये बिना जो क्रिया की जाती है वह "असंग अनुष्ठान" है। "प्रयत्न किये बिना" का अर्थ यह है कि जिस प्रकार प्रथम डण्डे से चलने वाला चक्र

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

फिर डंडे के अभाव में भी पूर्व वेग के संस्कार से सतत भ्रमण करता रहता है, उसी प्रकार से आगम के सम्बन्ध से प्रवर्तित वचन अनुष्ठान के सतत अभ्यास से जब आगम के संस्कार अतिरूढ़ (स्वभावगत) हो जाते हैं, तब शास्त्र-वचनों की अपेक्षा के बिना भी सहज भाव से प्रवृत्ति होती है, वही "असंग अनुष्ठान" है। उस समय चित्त की स्वस्थता तेल की धारा की तरह प्रशान्त होती है, अतः बिना प्रयत्न के केवल पूर्व स्मृति की अपेक्षा से सहज भाव से सुविशुद्ध भावों का धाराबद्ध प्रवाह होता है। योग-शास्त्रों में चित्त की ऐसी अवस्था को "प्रशान्तवाहिता" कहते हैं।

"सम्म सामायिक" भी सम्यग् दर्शन, ज्ञान और चारित्र गुण की तन्मयता का आत्म-परिणाम है और दूध में डाली गई शक्कर की एकरूपता की तरह ये तीनों गुण परस्पर एक दूसरे से एकरूप होकर मिल जाने से "सम्म सामायिक" प्राप्त होती है।

अनालम्बन योग के समस्त लक्षण "सम्म सामायिक" पर भी सापेक्षता से घटित किये जा सकते हैं, जिसके पूर्ववर्ती सालम्बन ध्यान आदि का अन्तर्भाव "सम सामायिक" में किया जा सकता है, क्योंकि उसमें शास्त्रयोग तथा ध्यानयोग की प्रधानता होती है।

(३) **सम्म सामायिक एवं अनुभवदशा**—प्रातिभज्ञान अनुभवदशा-स्वरूप है। ध्यानयोग एवं श्रुतज्ञान के सतत अभ्यास से जो प्रातिभज्ञान-स्वरूप आत्म-ज्योति प्रकट होती है उसे "अनुभव" भी कहते हैं।

जिस प्रकार दिन और रात्रि से "संध्या" भिन्न है, उसी प्रकार से प्रातिभ अनुभव ज्ञान केवलज्ञान एवं श्रुतज्ञान से भिन्न है, अर्थात् मति-श्रुत की उत्तरभावी और केवलज्ञान की पूर्वभावी आत्मज्योति को "अनुभव" कहते हैं।

"षोडषक" में भी कहा है कि[1], परमात्मा का सालम्बन-ध्यान जब पराकाष्ठा पर पहुँचता है, तब उसके फलस्वरूप "प्रातिभ-ज्ञान" प्राप्त होता है और उसके प्रभाव से तत्व-दर्शन (आत्म-दर्शन) प्राप्त होता है।

श्रुतज्ञान से अनुभव ज्ञान की भिन्नता—समस्त प्रकार के[2] संक्लेश से रहित आत्म स्वरूप को विशुद्ध (प्रत्यक्ष) अनुभव के बिना लिपिमयी

---

१ चरमावंचकयोगात्-प्रातिभसंजाततत्वसुदृष्टिः। —(षोडषक)

२ पश्यतु ब्रह्मनिर्द्वन्द्वं, निर्द्वन्द्वानुभवं बिना।
कथं लिपिमयी दृष्टि वाङ्मयी वा मनोमयी॥ —(ज्ञानसार)

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

दृष्टि (संज्ञा अक्षर रूप), वाङ्मयीदृष्टि (व्यंजनाक्षर रूप) अथवा मनोमयी दृष्टि (लब्धि अक्षर रूप अर्थ परिज्ञान) से ज्ञात नहीं किया जा सकता।

योगियों को इस सालम्बन ध्यान रूप अपरतत्व के प्रभाव से ही "परतत्व" प्राप्त होता है, उसके बिना नहीं हो सकता।

अक्षर श्रुतज्ञान के तीनों भेदों के द्वारा "ब्रह्म" का अनुभव कदापि नहीं हो सकता। "ब्रह्म" का अनुभव करने के लिए तो "अनुभव ज्ञान" ही समर्थ है।

अनुभवदशा सुषुप्ति, स्वप्न अथवा जागृत अवस्था से भी चौथी अनुभवदशा है। यह विकल्प रहित अवस्था है, फिर भी सुषुप्ति नहीं है, क्योंकि सुषुप्त अवस्था विकल्प रहित होने पर भी मोहमयी है, जबकि स्वप्न एवं जागृत अवस्था तो सविकल्प एवं मोहस्वरूप भी है। अतः इन तीनों से अनुभव-अवस्था भिन्न है।

अनुभवदशा की महिमा—शास्त्र सूचना देते हैं, मार्ग-दर्शन करते हैं, आत्मा के शुद्ध स्वरूप का अनुभव करने के उपाय बताते हैं, परन्तु आत्मा का साक्षात्कार कराके भव-सागर से उस पार पहुंचाने का कार्य तो "अनुभवज्ञान" का ही है।

"इन्द्रियों से[1] अगोचर एवं समस्त उपाधियों से रहित शुद्ध आत्मा को शुद्ध अनुभव के बिना, केवल शास्त्रों की सहस्रों युक्तियों से हम नहीं जान सकते।"

आत्मा अतीन्द्रिय पदार्थ है। इसे जानने-समझने के लिये अतीन्द्रिय सामर्थ्ययोगस्वरूप "अनुभवज्ञान" ही एक अनन्य उपाय है।

"अनुभवज्ञान" शास्त्रयोग का फल है। इस कारण ही यह मोक्ष का प्रधान साधन है। सुविहित मुनि शास्त्र-दृष्टि से शब्द ब्रह्म का बोध करके अनुभवज्ञान के द्वारा स्वप्रकाशरूप परब्रह्म—आत्म-स्वरूप को जानते हैं।

"सम्म सामायिक" भी प्रशान्तवाहिता, अनालम्बन योग और असंग अनुष्ठानरूप है, यह बात हम पहले सोच चुके हैं। यहाँ तो "सम्म सामायिक" और "अनुभवदशा" कहने का कारण यह है कि इनमें सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र परिणाम स्वरूप आत्मा का अनुभव होता है।

---

१ अतीन्द्रियं परंब्रह्म विशुद्धानुभवं बिना।
शास्त्रायुक्ति शतेनापि न गम्यं यद् बुधाः जगुः ॥ —(ज्ञानसार)
आत्मानमात्मना वेत्ति मोहत्यणाद् य आत्मनि।
तदेव तस्य चारित्रं तज्ज्ञानं तच्च दर्शनम ॥ —(योगशास्त्र)

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

"आत्मा[1] मोह के त्याग से स्वआत्मा में ही स्वआत्मा के द्वारा आत्मा को ही जानती है, वही उसका चारित्र है, वही ज्ञान और दर्शन है।"

महोपाध्याय श्री यशोविजयजी महाराज ने भी "ज्ञानसार" में बताया है कि "ज्ञाता आत्मा, आत्म-स्वभावरूप आधार के सम्बन्ध में शुद्ध कर्म-उपाधिरहित स्वद्रव्यरूप आत्मा को आत्मा के द्वारा अर्थात् ज्ञप्ररिज्ञा एवं प्रत्याख्यान-प्ररिज्ञा के द्वारा जानती है। इस रत्नत्रयी में ज्ञान, रुचि, श्रद्धा एवं चारित्र (आचरण) की मुनि को अभेद परिणति होती है।"

इस कारण से ही जो श्रुतज्ञान के द्वारा केवल आत्मा को जानते हैं, उन्हें अभेद नय की अपेक्षा से "श्रुतकेवली" समझें, और जो केवल सम्पूर्ण श्रुत को ही जानते हैं उन्हें भेद नय से "श्रुतकेवली" समझने का शास्त्रों में उल्लेख है।

इस प्रकार विचार करने से ज्ञात होता है कि तन्मयतास्वरूप "सम्म सामायिक" में आत्मानुभव अवश्य होता है।

योग शास्त्र के बारहवें प्रकाश में भी इस सम्बन्ध में पर्याप्त स्पष्टीकरण किया गया है जिसके सार पर यहाँ विचार करेंगे।

अनुभवदशा का स्वरूप—सम्पूर्ण कर्म के क्षेय से मोक्ष प्राप्त होता है। कर्म-क्षय आत्मज्ञान-अनुभव से होता है और आत्मज्ञान ध्यान-साध्य से। अतः ध्यान करना समस्त मुमुक्षु आत्माओं का सच्चा हित है। ध्यान समता के बिना नहीं हो पाता और ध्यान के बिना निश्चल समता प्राप्त नहीं होती। दोनों परस्पर एक दूसरे के सहायक एवं पूरक हैं।

समता और ध्यान का स्थान "चित्त" है। चित्त की निम्नलिखित चार अवस्थाऐं बताई गई हैं—

(१) **विक्षिप्त**—सामान्य लोगों का तथा प्राथमिक अभ्यासी का चित्त अत्यन्त चंचल होता है। जिन व्यक्तियों का मन किसी भी कार्य में स्थिर नहीं रहता, सदा डाँवाडोल रहता है, वह "विक्षिप्त अवस्था" कहलाती है।

---

१ आत्मात्मन्येव यच्छुद्धं, जानात्यात्मानमात्मना।
सेयं रत्नत्रये ज्ञप्तिरुच्याचारैकता मुनेः।। — (ज्ञानसार)

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

(२) यातायात—थोड़ा अभ्यास करने के पश्चात् चित्त चिन्तनीय विषय में अल्पकाल तक स्थिर रह सकता है, तब तनिक आनन्दानुभूति होती है, इसे "यातायात अवस्था" कहते हैं।

(३) श्लिष्ट – ध्यान के निरन्तर अभ्यास के पश्चात् ध्येय में चित्त स्थिर होता है, तब वह आनन्दमय होता है। वह चित्त की "श्लिष्ट अवस्था" कहलाती है।

(४) सुलीन—दीर्घकालीन शास्त्राभ्यास एवं ध्यान-अभ्यास से चित्त ध्येय में अत्यन्त एकाग्र हो जाता है, उसे "सुलीन अवस्था" कहते हैं। वह परमानन्दमय होती है, अर्थात् ध्याता को उस समय दिव्य आनन्दानुभूति होती है।

क्रमशः इन अवस्थाओं में से गुजरने के पश्चात् इनके निरन्तर अभ्यास से "अमनस्कभाव" अर्थात् चित्त को "उन्मनी अवस्था" प्रकट होती है।

एवं क्रमशोऽभ्यासावेशाद्ध्यानं भवेन्निरालंबं।
समरसं भावं यातः परमानंदं ततोऽनुभवेत्॥

चित्त की ये अवस्था अभ्यास-साध्य हैं। क्रमानुसार अभ्यास करके "सुलीन अवस्था" सिद्ध करके निरालम्बन ध्यान का आश्रय लेना चाहिये। इस प्रकार निरालम्बन ध्यान के अभ्यास से "समरस-भाव" प्राप्त होने पर परमानन्दानुभूति होती है।

उपर्युक्त श्लोक का अर्थ समझने पर तीनों सामायिकों का अद्भुत रहस्य समझ में आयेगा।

प्रथम दो (विक्षिप्त एवं यातायात) अवस्थाओं में कोई भी सामायिक प्राप्त नहीं हो सकती।

(१) साम सामायिक में चित्त की श्लिष्ट अवस्था होती है।

(२) सम सामायिक में चित्त की सुलीन अवस्था होती है।

(३) सम्म सामायिक में चित्त की अमनस्क अवस्था (उन्मनी भाव) होती है।

प्रथम दो सामायिकों में सालम्बन ध्यान होता है। उनके निरन्तर अभ्यास से निरालम्बन ध्यान की शक्ति प्रकट होती है और निरालम्बन ध्यान के अविरल अभ्यास से "समरस भाव" अर्थात् "सम्म-सामायिक" प्राप्त करके परमानन्दानुभूति की जा सकती है। यह परमानन्द की अनुभूति ही वास्तविक "अनुभव-दशा" है।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

सम्म सामायिक एवं उन्मनी भाव—सम्म सामायिक प्रशान्तवाहिता रूप हैं, जिसमें पूर्वोक्त चित्त की चारों अवस्थाओं में से कोई अवस्था नहीं होती, परन्तु यहाँ चित्त अत्यन्त उन्मनी भाव में (अमनस्क) होता हैं।

बहिरन्तश्च समंतात्, चिंता चेष्टा परिच्युतो योगी।
तन्मयभावं प्राप्तः, कलयति मृगमुन्मनीभावम्॥

"बाह्य एवं आन्तरिक चिन्ता-चेष्टा रहित योगी तन्मय भाव प्राप्त करके अत्यन्त अमनस्क हो जाता हैं।"

जब चित्त चिन्तन-मुक्त होता हैं तब शान्त सुधारस का आनन्द धाराप्रवाह चलता हैं।

बहिरात्मदशा दूर करके, अन्तरात्मदशा में स्थिर होकर, परमात्म-स्वरूप के ध्यान में तन्मय होने से उपर्युक्त "उन्मनीभाव" उत्पन्न होता हैं, जिसे लय, औदासीन्य अथवा "अमनस्कयोग" भी कहते हैं।

बहिरात्मदशा का विशेष स्वरूप गुरुगम से समझने का प्रयत्न करें। संक्षेप में निम्नलिखित है।

आत्मा की तीन अवस्था—

(१) **बहिरात्मा**—देह में आत्मबुद्धि बहिरात्मा का लक्षण हैं। चर्म-चक्षुओं से दीखने वाली देह ही मैं हूँ—ऐसी मान्यता एवं तदनुरूप प्रवृत्ति-वाला जीव "बहिरात्मा" कहलाता है। उसे प्रथम गुणःस्थानवर्ती "मिथ्या-दृष्टि" जीव भी कहते हैं।

(२) **अन्तरात्मा**– देह से भिन्न एवं देह के भीतर विद्यमान चैतन्य तत्व में आत्मबुद्धि अन्तरात्मा का लक्षण है। भौतिक दृष्टि से दिखाई देने वाली देह में नहीं हूँ परन्तु उसके भीतर रहा हुआ चैतन्य तत्व (आत्मा) ही मैं हूँ—ऐसी मान्यता वाला और तदनुरूप प्रवृत्ति वाला जीव अन्तरात्मा कहलाता हैं, अर्थात् जिसे चित्त, वाणी अथवा काया आदि में आत्म-भ्रांति नहीं होती उसे "अन्तरात्मा" कहते हैं। सम्यग्दृष्टि, देशविरति और सर्व-विरति—चौथे से बारहवें गुणस्थान तक के जीव इस भूमिका में होते हैं।

(३) **परमात्मा**—सच्चिदानन्दस्वरूप प्राप्त शुद्ध बुद्ध और पूर्ण ज्ञानी आत्मा को "परमात्मा" कहा जाता हैं। वे सयोगी और अयोगी तेरहवें और चौदहवें गुणस्थानवर्ती जीव अरिहंत एवं सिद्ध भगवान हैं।

बहिरात्मदशा की भयंकरता—इस अवस्था वाले जीव देह आदि पौद्गलिक पदार्थों में ही अहंकार एवं ममत्व की वृत्ति-प्रवृत्ति करते होते

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

हैं। वे जिस प्रकार अपनी देह में अपनी आत्मा की बुद्धि रखते हैं, उसी प्रकार से दूसरों की देह में भी दूसरों की आत्मा की बुद्धि रखते हैं।

आत्मा के वास्तविक परिचय के अभाव में अज्ञानी जीव अपनी देह को ही अपना स्वरूप मानते हैं और पर की देह को पर का स्वरूप मानते हैं, परन्तु देह में व्याप्त अनन्तज्ञान एवं आनन्दमय आत्म-तत्व के स्वरूप का उन्हें तनिक भी ज्ञान नहीं होता।

(स्वत्व के) अज्ञानान्धकार में टकराते जोव माता, पिता, पुत्र, कलत्र, स्नेही, स्वजनों, महल-बगीचों और धन-धान आदि सामग्री में ममत्व की कल्पना कर लेते हैं। पृथ्वीकाय आदि पुद्गलों के पिण्ड स्वरूप स्वर्ण, चाँदी आदि को ही वास्तविक सम्पत्ति मान कर उनमें ममत्व भावना रखते हैं और उन्हें ही सुख के साधन समझ कर उन्हें प्राप्त करके उनका उपभोग करने के लिए सदा तत्पर रहते हैं।

पुद्गलजनित सांयोगिक सुखों की तीव्र आशा, आसक्ति और मूर्च्छा के वशीभूत बने इन अज्ञानी व्यक्तियों को देह के प्रति हुए आत्म-भ्रम एवं जड़ पदार्थों की ममता के कारण यह देह बार-बार धारण करनी पड़ती हैं और भयंकर दुःखमय नरक-निगोद आदि दुर्गतियों में अनन्त काल तक परिभ्रमण करना (पीड़ित होना) पड़ता है, इस बात का उन्हें तनिक भी ध्यान नहीं आता।

बहिरात्मदशा के शिकार बने संसारी जीवों की ऐसी दयनोय दशा देखकर ज्ञानी पुरुषों का हृदय भाव-करुणा से आर्द्र हो जाता है। देह आदि क्षणिक सुखों के लिए हिंसा आदि पाप-कार्यों में प्रवृत्त जीवों का भयंकर भावी देखकर परम कृपालु महात्माओं के नेत्र भी अश्रु-पूर्ण हो जाते हैं।

इस काल कवलित संसार में परिभ्रमण कराने वाले, संसार वृक्ष की मूल तुल्य बहिरात्मदशा का मूलोच्छेदन करने के लिये ज्ञानी भगवान सर्व प्रथम उपदेश देते हैं।

बहिरात्मदशा निवारण करने का उपाय—"मैं और मेरा' यह मन्त्र मोहराजा का हैं। संसारी जीव अनादि काल से ही इस मन्त्र का अजपा-जाप कर रहा हैं। इसके प्रभाव से ही जन्म, जरा, मृत्यु, आधि, व्याधि एवं उपाधि की अनेक भाँति को असह्य यातनायें इस जीव को भोगनी पड़ती हैं।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

नरक आदि की दुस्सह यातनाओं से बचने के लिए और उसकी अनन्य कारणभूत बहिरात्मदशा का निवारण करने के लिए मोह द्वारा प्रदत्त मन्त्र भूलना होगा, उसके जाप स्थगित करने पड़ेंगे। मोह के प्रति-स्पर्द्धी धर्म राजा का अमोघ मन्त्र "नाहं न मम" का जाप निरन्तर शुरू करना पड़ेगा।

यह दिखाई देने वाली देह मैं नहीं हूँ, ये तथाकथित स्वजन, सम्पत्ति अथवा सत्ता मेरे नहीं हैं, परन्तु मैं एक शुद्ध आत्मद्रव्य हूँ, केवलज्ञान आदि गुण मेरे हैं, उनके अतिरिक्त समस्त पुद्गल द्रव्य मेरे नहीं हैं, मैं उनका नहीं हूँ।"

मेरी आत्मा तो अनन्त ज्ञान, दर्शन, चारित्र गुणों से परिपूर्ण है, वह शाश्वत है, उसका कदापि नाश होने वाला नहीं है, वह तो अजर, अमर, अविनाशी है, सच्चिदानन्दस्वरूप एवं परमानन्दमय है।

ये दृश्य-अदृश्य समस्त पौद्गलिक पदार्थ तो क्षणिक एव नश्वर हैं, जड़ हैं और सुख देने की शक्ति रहित हैं। ऐसे पदार्थों के प्रति मोह-ममता रखकर मैं क्यों दुःखी होऊँ? उनकी आसक्ति से तो आत्मा दीर्घकाल तक दुःखमय दुर्गतियों की पथिक बनती है।

इस प्रकार देह आदि पदार्थों की अनित्यता एवं असारता का बार-बार चिन्तन करने से और आत्मा के यथार्थ स्वरूप का चिन्तन, मनन करने से बहिरात्मदशा नष्ट होती जाती है और अन्तरात्म दृष्टि विकसित होती रहती है।

अन्तरात्मदृष्टि प्राप्त करने का उपाय—सत्शास्त्रों के सतत अध्ययन, अभ्यास से एवं सद्गुरुओं के पुनीत समागम—सम्पर्क से आत्मा एवं देह आदि पदार्थों की भिन्नता का ज्ञान ज्यों-ज्यों अधिकाधिक आत्मसात् होता है, त्यों-त्यों "अन्तरात्मदशा" का अधिकाधिक विकास होता रहता है, उसमें स्थिरता आती रहती है।

"मैं आत्मा हूँ" ऐसा यथार्थ ज्ञान होने पर जीव को पूर्वावस्था (बहिरात्मदशा) में किये गये अकार्यों के कारण अपार पश्चात्ताप होता है, अमूल्य समय नष्ट करने के कारण अत्यन्त खेद होता है कि—आज तक मैं इन्द्रियों का दास बनकर, देह सुख में ही आसक्त-अन्धा बनकर मैं अपनी विशुद्ध एवं पूर्णानन्दमय आत्मा को ही भूल गया, पूर्णतः निकटस्थ सुख-शान्ति के अक्षय निधान को भी मैं नहीं निहार सका—नहीं पहचान

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

सका ? उफ ! सुख और आनन्द के आभास तुल्य इन विषय-सुखों के दारुण विपाक को भूलकर मैं कितने भयंकर भ्रम का शिकार हो गया।

असार को सार और विनाशी को अविनाशी मान लेने की इस प्राण-घातक भूल का पर्दा फट जाने पर अब मुझे वह सत्य समझ में आता है कि बाह्य दृष्टि से दीखते ये समस्त पदार्थ जड़ हैं, उनमें कोई ज्ञान नहीं है, उनमें सुख अथवा आनन्द प्रदान करने की तनिक भी शक्ति नहीं है। जो सुख-दुःख की भावना को जानती है, अनुभव करती है, वह तो मेरे भीतर बसी चैतन्य-शक्ति है, जिसे आत्मा कहते हैं। यह आत्म-द्रव्य सनातन है, तीनों काल में अबाधित रीति से रहने वाला द्रव्य है। यह कदापि अपना चैतन्य स्वरूप छोड़कर जड़रूप नहीं बनता।

अनादिकाल से कर्म परमाणुओं के साथ वह हिल-मिल गया है, फिर भी इसका स्वयं का स्वरूप कदापि नष्ट नहीं होता। उसके अमुक प्रदेश (आठ रुचक प्रदेश) तो सदा निरावरण एवं निर्मल ही होते हैं। ऐसे आत्म-तत्व से परिचित कराने वाले तीर्थंकर परमात्मा, उनके शास्त्र एवं सद्-गुरुओं की शरण ग्रहण करके उनके मार्ग-दर्शन और आदेशानुसार यदि मैं जीवन यापन करने के लिए प्रेरित होऊँ तो इस भयानक भव अटवी से मेरा अवश्य उद्धार हो जायेगा।

निरंजन, निराकार, ज्योतिर्मय सिद्ध परमात्मा के ध्यान में लीन होकर, अरिहन्त परमात्मा के शुद्ध द्रव्य-गुण-पर्यायों का चिन्तन-मनन करके मैं अपने आत्मस्वरूप का यथार्थ परिचय एवं उसकी अनुभूति करने का प्रयास करूँगा। अन्तरात्मदशा प्राप्त करने का यही अनन्य उपाय है, सच्चा मार्ग है।

अनालम्बनयोग अन्तरात्मदशा स्वरूप है, वह कहाँ हो सकता है ? अर्थात् उसके अधिकारी कौन हैं ? इसका उत्तर यह है कि अनालम्बनयोग मुख्यतः क्षपकश्रेणीरूप अपूर्वकरण में होता है, अर्थात् उसके अधिकारी सातवें आठवें गुणस्थानक वाले जीव होते हैं, अर्थात् परमात्म-तत्व का साक्षात्कार केवलज्ञान से होता है और केवलज्ञान प्राप्त होने के पूर्व क्षण तक अनालम्बन योग अवश्य होता है।

इस प्रकार आठवें गुणस्थानक से लगाकर बारहवें गुणस्थानक तक सम्पूर्ण "निरालम्बनयोग" होता है, जबकि सातवें गुणस्थानक में यह निरा-लम्बन योग अंशतः अल्प प्रमाण में हो सकता है, क्योंकि श्रेणी प्रारम्भ

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

करने से पूर्व उस प्रकार के प्रबल ध्यान आदि के वेग के लिए पूर्वाभ्यास होना अनिवार्य है।

वर्तमान में आलम्बन योग—यद्यपि मुख्यतया तो परतत्व के लक्ष्य-वेध के अभिमुख जो "सामर्थ्ययोग" है वही "निरालम्बनयोग" है, फिर भी उससे पूर्व होने वाले परमात्म गुणों के ध्यान को भी (मुख्य निरालम्बन ध्यान का प्रापक तथा परतत्व दर्शन की इच्छारूप एक ही ध्येय में ध्यान रूप में परिणमित शक्ति के योग से) "अनालम्बन योग" कहते हैं, अर्थात् श्रेणी के प्रारम्भ से ही शुक्लध्यान का अशरूप निरालम्बनयोग होता है। इतना ही नहीं, परन्तु सातवें गुणस्थानक में अप्रमत्त मुनि को भी अमुक अंश में होता है।

अवस्थात्रयी की भावना में निमग्न बने साधक को सिद्ध परमात्मा के गुणों के प्रणिधान के समय भी अनालम्बन योग होता है, अथवा संसारी मनुष्य के (व्यवहार-नय-मान्य) औपाधिक स्वरूप को गौण मान कर शुद्ध निश्चय-नय-मान्य शुद्ध आत्म-स्वरूप की विभावना करना भी निरालम्बन ध्यान का हो प्रकार है।

आत्मज्ञान-अनुभव निरालम्बन ध्यान (योग) का एक अंश है और यह निरालम्बन ध्यान ही मोह का क्षय करने में समर्थ होता है, उसके बिना मोह का मूल से नाश होना सम्भव नहीं है। कहा भी है कि—"जो अरिहन्त आदि को द्रव्य-गुण-पर्याय से जानते हैं, वे अपनी आत्मा को भी अवश्य जानते हैं, जिससे उनका मोह नष्ट होता है।"

अरिहन्त परमात्मा का स्वरूप शोधित स्वर्ण के समान अत्यन्त निर्मल है। उनका ज्ञान होने से समस्त आत्माओं के शुद्ध, निर्मल स्वरूप का ज्ञान होता है।

द्रव्य अन्वय स्वरूप है, गुण अन्वय का विशेषण है और पर्याय अन्वय के भेद—प्रकार हैं।

समस्त प्रकार से शुद्ध अरिहन्त परमात्मा के स्वरूप का विचार करने से द्रव्य-गुण-पर्याय स्वरूप अपनी आत्मा का भी साधक (स्व मन से) अनुभव कर सकता है, जिसकी रीति निम्नलिखित है—

(१) यह चेतन है, ऐसा अन्वय "**द्रव्य**" है।

(२) द्रव्य (अन्वय) का आश्रित "**चैतन्य**" विशेषण "गुण" है।

(३) समय मात्र के काल परिणाम से परस्पर भिन्न अन्वय द्रव्य के

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

भेद अर्थात् कालकृत अवस्था "पर्याय" हैं अथवा चिद्विवर्तन ग्रंथी अर्थात् आत्म-परिणाम की ग्रन्थी "पर्याय" हैं, द्रव्य की क्रमभावी अवस्था पर्याय हैं।

इस प्रकार त्रिकालिक स्व आत्मा का भी एक समय में अनुभव कर लेने वाला वह जीव मुक्ताफलों (मोतियों) को अपनी माला में समाविष्ट[1] कर लेता है, उसी प्रकार से चिद्विवर्तों को चेतना में समा कर, तथा विशेषण-विशेष्यत्व की कल्पना दूर होने पर मोतियों की श्वेतता-तेजस्विता माला में अन्तर्गत की जाती है, उसी प्रकार से चैतन्य को भी चेतन में ही अन्तर्गत करके (केवल माला की तरह) केवल आत्मा को ही जानता है, उसका ही अनुभव करता है। तत्पश्चात् उत्तरोत्तर क्षण में कर्त्ता, कर्म अथवा क्रिया के भेदों का क्षण विलय होने पर निष्क्रिय चिन्मात्र भाव को प्राप्त करता है और किसी प्रसिद्ध मणि तुल्य निष्कंप, निर्मल प्रकाशयुक्त उस आत्मा का मोह-अन्धकार अवश्य नष्ट होता है।

इस प्रकार शुद्ध आत्म स्वरूप की भावना के द्वारा आत्मानुभूति होती है वह निरालम्बन योग का ही एक अंश है जो वर्तमान में भी प्राप्त हो सकता हैं। कलिकालसर्वज्ञ आचार्यदेव श्री हेमचन्द्र सूरीश्वरजी महाराज ने अपने योगशास्त्र ग्रन्थ के अनुभव प्रकाश में अपने व्यक्तिगत अनुभव बताते हुए कहा है कि जिस प्रकार सिद्धरस के स्पर्श से लोहा स्वर्ण बन जाता है, उसी प्रकार से परमात्म-ध्यान के प्रभाव से आत्मा परमात्म-स्वरूप धारण करती है। जिनस्वरूप होकर 'जिन" का ध्यान करने वाला अवश्य ही "जिन" बनता है।

प्रत्येक जीवात्मा का यह सहज स्वभाव है कि वह जिस वस्तु का

---

१ जिस प्रकार कोई धनवान हार क्रय करने से पूर्व उसकी पूर्णतः जाँच करता है, हार, मोती और उसकी श्वेतता, ओप आदि की परीक्षा करता है, परन्तु हार पहनने के समय अन्य समस्त विकल्पों को त्याग कर केवल हार की ओर ही लक्ष्य रखता है, उसे ही पहचानता है, देखता है तो ही उसे पहनने का आनन्द अनुभव कर सकता है, अन्यथा नहीं; उसी प्रकार से आत्मा भी प्रथम अरिहन्त परमात्मा के शुद्ध स्फटिक तुल्य निर्मल स्वरूप का ध्यान धरती है। तत्पश्चात् उस ध्यान का प्रवाह ध्याता में विद्यमान परमात्म-स्वरूप का भान कराता है, अर्थात् मेरी आत्मा में भी निश्चय-नय से परमात्मा तुल्य द्रव्य-गुण-पर्याय हैं, ऐसा अनुभव होता है और फिर उपर्युक्त प्रक्रिया के द्वारा परमात्मा के साथ आत्मा की तन्मयता सिद्ध होती है।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

चिन्तन (ध्यान) करता है उसके कारण वह उसके आकार को प्राप्त कर लेता है। जिस प्रकार ईयल भ्रमरी के सतत ध्यान से—तद्रूप परिणाम से भ्रमरी के रूप में उत्पन्न होती है। उसी प्रकार से अन्तरात्मा भी परमात्मा के ध्यानावेश से अर्थात् आत्मा में परमात्म भावना लाकर परमात्म-स्वरूप में तन्मय होता हैं। उस समय ध्याता, ध्यान और ध्येय की एकता रूप समापत्ति सिद्ध होने पर ध्याता को परमात्म-सदृश स्व-आत्मा का अनुभव होता है। इस प्रक्रिया को "आत्मार्पण" कहा जा सकता है, क्योंकि यहाँ आत्मा का परमात्मा में पूर्ण समर्पण होता है।

समस्त प्रकार की आन्तरिक वृत्तियाँ शान्त होने पर जो समरसी भाव उत्पन्न होता है उसे परम उन्मनी भाव, अमनस्कयोग, लय-अवस्था अथवा परम औदासीन्य भाव भी कहते हैं और इस अवस्था में आत्मानुभूति अवश्य होती है।

यदिदं तदिति न वक्तुं साक्षाद्गुरुणा पि हन्त शक्येत।
औदासीन्यपरस्य प्रकाशते तत्स्वयं तत्वम्॥

—(योगशास्त्र)

बाह्य घट आदि पदार्थ की तरह "ये रहा आत्म तत्व" इस प्रकार गुरु भी जिस तत्व को साक्षात् नहीं बता सकते, वह तत्व उदासीन भाव में तत्पर बने साधक को स्वयं प्रकाशित होता है। यह है उदासीन भाव का प्रभाव।

सद्गुरुओं की सेवा करते हुए शास्त्राध्ययन करके आत्मानुभव के सच्चे उपाय जानकर उनके निरन्तर सेवन से क्रमानुसार जब आत्मानुभूति की भूमिका प्राप्त होती है, तब शास्त्रोक्त वचनों के स्मरण-संस्कार मात्र से अनायास ही आत्म-तत्त्व का साक्षात्कार होता है। उस समय गुरु अथवा शास्त्र-वचन साक्षात् आत्मानुभूति में कारणभूत नहीं बन सकते, परन्तु साधक अपनी ही सामर्थ्य से आत्मा में आत्मा का अनुभव करता है। पूज्य श्री आनन्दघनजी महाराज ने भी गाया है—

आलम्बन-साधन जे त्यागे, पर-परिणति से भागे रे।
अक्षय दर्शन, ज्ञान वैरागे, आनन्दघन प्रभु जागे रे॥

आत्मानुभूति के लक्षण—शुभ ध्यान के सतत अभ्यास से मन जब समस्त शुभ एवं अशुभ विचारों से मुक्त हो जाता है, चिन्ता एवं स्मृति आदि का भी विलय होता है अर्थात् उन्मनी भाव आ जाता है, तब "निष्कल तत्व" प्रकट होता है अर्थात् अनुभव ज्ञान होता है।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

आत्मानुभूति के बाह्य चिन्ह—आत्मानुभूति के समय योगी की देह तेल आदि के मर्दन के बिना भी अत्यन्त मृदु एवं स्निग्ध बनती है, तथा स्तब्धता दूर होने से पूर्णत: शिथिल हो जाती है, पुष्प के समान सर्वथा हलकी हो जाती है। तेल-मर्दन से कृत्रिम रूप से आई हुई चिकनाहट अथवा प्रस्वेद आदि के कारण प्रतीत होती देह की सुकोमलता आत्मानुभूति के चिन्ह नहीं है, परन्तु किन्ही बाह्य साधनों के बिना मन की अमनस्क (विमनस्क) अवस्था में स्वाभाविक तौर से उपर्युक्त भावों की अनुभूति हो तो समझना चाहिये कि ये आत्म-साक्षात्कार के सूचक चिन्ह हैं।

उन्मनी (अमनस्क) भाव का महत्त्व—मन को शल्य एवं संक्लेश रहित बनाने का परम उपाय एकमात्र उन्मनी भाव है। इसके बिना मन में शल्यों का सर्वथा उन्मूलन नहीं हो सकता।

आत्म-दर्शन की तीव्र उत्कंठा वाले अप्रमत्त योगी भी तनिक भी प्रमाद किये बिना अत्यन्त दुर्वार, चंचल, सूक्ष्म एवं शीघ्रगामी मन का भेदन करने के लिए उन्मनी भाव का ही आश्रय लेते हैं और अपनी आत्म-दर्शन की उत्कंठा पूर्ण करते हैं। उन्मनी भाव में डुबकी लगाते योगियों को अपनी देह के अस्तित्व की स्मृति तक नहीं रहती—मानों देह बिखर गई हो, जल कर राख हो गई हो, अर्थात् उन्हें केवल देह रहित आत्मा का ही अनुभव होता है।

उन्मनी भाव का फल—आत्म-तत्व की अनुभूति ही उन्मनी भाव का परम फल है।

उन्मनीभाव के आन्तरिक चिन्ह—अविद्या—बहिरात्म भाव (मिथ्यात्व) का सर्वथा नाश होता है, अर्थात् अब देह के प्रति कदापि आत्म-बुद्धि नहीं होती।

इन्द्रियजनित विकारों का नाश होने से परम शान्त सुधारस के आस्वादन का अनुभव होता है।

प्राणायाम के अभ्यास बिना भी प्राणवायु का विलय होता है, अर्थात् चिरकाल तक प्रयत्न करने पर भी जिस प्राणवायु पर नियन्त्रण नहीं हो पा रहा था, वह वायु उन्मनी भाव (अमनस्कता) के प्रकट होने से स्थिर हो जाता है।

उन्मनी भाव से आत्मानुभूति—मन की उन्मनी अवस्था प्राप्त होने के पश्चात् भी साधक योगी उसके अविरल अभ्यास के द्वारा ज्यों-ज्यों

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

अधिकाधिक स्थिरता प्राप्त करता जाता है, त्यों-त्यों उसे कर्म कलंक से रहित, निष्कल, निर्मल, आत्म-तत्व की अनुभूति होती रहती है। उस समय सांस का समूल उन्मूलन करता हुआ वह योगी "मुक्तात्मा" की तरह सुशोभित होता है।

लय अवस्था के सर्वोच्च शिखर पर पहुँचा हुआ योगी सिद्धि के दिव्य योग का आंशिक अनुभवास्वादन करता होने से वह सिद्धों से किसी प्रकार निम्न कोटि का नहीं है, इस कारण ही तो वह मुक्ति की अभिलाषा से भी निवृत्त हो जाता है।

अनुभव-योगी के उद्गार—"मोक्ष प्राप्त हो अथवा न हो, मुझे इसकी तनिक भी चिन्ता नहीं है, क्योंकि मुक्ति में प्राप्त होने वाले परमानन्द के सुख का व्यञ्जन साक्षात् रूप से मुझे इस जीवन में आस्वादन करने को मिला है, जिसके समक्ष तीनों लोकों के भौतिक सुख तुच्छ प्रतीत होते हैं।" इस परमानन्द के अनुभव में लीन होने पर "मुक्ति" प्राप्त करने की इच्छा भी विलीन हो जाती हैं, फिर अन्य इच्छा-महेच्छाओं की तो बात ही क्या है ?

उन्मनी भाव के प्रभाव से उत्पन्न आत्मानुभूति के परमानन्द की मधुरता के समक्ष पूर्णचन्द्र की शीतलता अथवा अमृत की मधुरता भी सर्वथा फीकी लगती है।

इस आत्मानुभूति की अवस्था का सतत अभ्यास होने पर क्रमशः शुक्लध्यान, क्षपकश्रेणी, केवलज्ञान और अन्त में निष्क्रिय अवस्था (योग-निरोध) प्राप्त होने पर मोक्ष के शाश्वत सुख की प्राप्ति होती है, अर्थात् आत्मा की सच्चिदानन्दमय पूर्णता खिल उठती है।

सम्म सामायिक के पूर्वोक्त स्वरूप एवं फल के साथ आत्मानुभवदशा के स्वरूप एवं फल का समन्वय करने पर दोनों की समानता ज्ञात हुए बिना नहीं रहती। सम्म सामायिक में भी ज्ञान, दर्शन और चारित्र के परिणामों की एकता (एकरूपता) होने पर आत्मा के सहज स्वभाव का अनुभव होता है, अर्थात् सम्म सामायिक अनुभवदशा स्वरूप है, जिससे अनुभव की समस्त कक्षाओं का भी उसमें समावेश हो जाता है।

सामायिक एवं प्रवचनमाता—पाँच समिति और तीन गुप्ति ये चारित्राचार के आठ प्रकार हैं। संयमरूपी बालक की जन्मदाता होने से, उसका पालन-पोषण और उसकी रक्षा करने वाली होने से उन्हें "माता"

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

के नाम से सम्बोधन किया जाता है। जैन दर्शन में "अष्टप्रवचनमाता" अत्यन्त प्रसिद्ध एवं महत्वपूर्ण हैं।

पणिहाण जोगजुत्तो पंचहिं समिहिं तिहिं गुत्तिहिं।
एस चरित्तायारो अट्ठविहो होइ नायव्वो॥

"प्रणिधान योग-युक्त चारित्राचार पाँच समिति और तीन गुप्ति के द्वारा आठ प्रकार का है। चारित्र के समस्त प्रकारों का संग्रह आठ प्रवचन माताओं में हो चुका है।"

चारित्र की उपस्थिति में सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान की भी उपस्थिति अवश्य होती है।

इस प्रकार रत्नत्रयी का एकत्रित सम्मिलन होने से "प्रवचनमाता" सामायिक स्वरूप है।

प्रवचनमाता नाम की सार्थकता—कहा है कि प्रवचन[1] द्वादशांगी अथवा (उसके आधारभूत) श्रमण संघ की जननी होने से "ईर्या समिति" आदि आठ "प्रवचनमाता" कहलाती हैं, क्योंकि उन ईर्या समिति आदि के आश्रय से ही उनकी (प्रवचनमाता की) साक्षात् अथवा परम्परा से उत्पत्ति होती है। जिसके द्वारा जिनकी उत्पत्ति होती है, उन्हें उनकी "माता" कहा जाता है।

चतुर्विध संघ ईर्या समिति आदि को एक घड़ी भी अलग नहीं रखे तो ही उसे संघ कहा जा सकता है। "प्रवचनमाता" की उपेक्षा करने वाला साधु सचमुच साधु नहीं है और श्रावक सचमुच श्रावक नहीं है।

छोटा बालक माता के सतत सान्निध्य में रहकर ही बड़ा होता है, उत्तम जीवन जीने वाला बनता है। माता से बिछुड़ जाने वाला बालक उचित देखरेख के अभाव में अकाल काल का ग्रास भी बनता है, उसी प्रकार से साधु-साध्वी अथवा श्रावक-श्राविका भी इन माताओं की निश्रा में रहकर जीवन यापन करें तो ही वे संघ के सदस्य रह सकते हैं, अन्यथा नहीं।

"षोडषक" ग्रंथ में परम पूज्य श्री हरिभद्रसूरिजी महाराज ने भी यही बात बताई है कि—"प्रवचन की प्रसूति में हेतु-भूत होने से "ईर्या

---

१ प्रवचनस्य द्वादशांगस्य तदाधारस्य वा संघस्य मातर इव जनन्य इव प्रवचन-मातरः इर्यासमित्यादयः। —(समवायांग सूत्रवृत्ति)

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

समिति" आदि को "प्रवचन माता" कहा है। इनके पालक साधु को भव का भय नहीं होता, अतः प्रयत्नपूर्वक नित्य इनका पालन करना चाहिये।"

"योगशास्त्र" में भी कहा है कि "चारित्र-देह को उत्पन्न करने वाली, रक्षा करने वाली और पावन करने वाली होने से "समिति गुप्ति" को साधु की आठ माताओं के रूप में माना जाता है।

माता बालक का हित करने वाली होती है, उसी प्रकार से ये प्रवचन माता भी (चारित्र गुण उत्पन्न करके) चारित्रवान् का हित करती हैं, चारित्र जीवन में लगने वाले अतिचारों (दोषों) की मलिनता दूर करके आत्म-विशुद्धि की वृद्धि करती हैं।

समिति गुप्ति का लक्षण और कार्य—

गुप्ति—संवरमयी उत्सर्गिक (निश्चय मार्ग) परिणाम रूप है।

समिति—संवर एवं निर्जरामय अपवाद (शुद्ध व्यवहारमय मार्ग) परिणाम रूप है।

आत्मगुण के प्रादुर्भाव—प्रकटीकरण से पूर्व मोक्ष साधक आत्म-परिणाम ही समिति-गुप्ति है।

अयोगी अवस्था सिद्ध करने की तीव्र उत्कंठा वाले साधक व्यक्तियों के जीवन में गुप्ति की प्रधानता होती है, अर्थात् वे संकल्प-विकल्प का जाल तोड़कर मन को स्थिर करते हैं, वाणी का व्यापार बन्द करके मौन धारण करते हैं और हलन-चलन की क्रियाओं को त्याग कर स्थिर होते हैं, यह मुनि का उत्सर्ग मार्ग है। परन्तु इस मार्ग पर दीर्घ काल तक स्थिर नहीं रह सकने पर अथवा ऐसी आवश्यकता पड़ने पर जयणापूर्वक प्रवृत्ति करने के लिए वह समिति का आश्रय लेता है। समिति शुभ प्रवृत्ति स्वरूप है और गुप्ति शुभ कार्य में प्रवृत्ति और अशुभ कार्य में निवृत्ति रूप है।

इन आठों प्रवचन माताओं में "मनोगुप्ति" प्रधान है। शेष सात उसे ही पुष्ट बनाती हैं, अर्थात् मनोगुप्ति साध्य है और शेष सात साधन हैं। कहा भी है—"धर्मः चित्त प्रभवो"—धर्म चित्तप्रभव है अर्थात् धर्म का उद्भव-स्थान चित्त है। कर्म-मल के नाश होने से निर्मल एवं पुष्ट बना चित्त ही धर्म है। समस्त सदनुष्ठानों का आयोजन चित्त की शुद्धि के लिए ही है।

मनोगुप्ति एवं सामायिक—

विमुक्तकल्पनाजालं, समत्वे सुप्रतिष्ठितम्।
आत्मारामं मनस्तज्ज्ञैः मनोगुप्तिरुदाहृता॥ —(योगशास्त्र)

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

(१) संकल्प, विकल्पों के जाल से रहित अर्थात् मन की निर्मलता।

(२) समभाव में स्थिरता अर्थात् मन की स्थिरता।

(३) आत्मस्वभाव में तन्मयता अर्थात् मन की तल्लीनता।

मनोगुप्ति के ये मुख्य तीन भेद हैं जिनमें मनोलय, मनःशुद्धि, अनुप्रेक्षा, धारणा, ध्यान एवं समाधि आदि समस्त प्रकार के योगों का अथवा आन्तरिक साधनाओं का समावेश हो चुका है, जैसे—

प्रथम भेद में मन की श्लिष्ट अवस्था, धारणा तथा अनुप्रेक्षा आदि का समावेश है।

दूसरे भेद में मन की सुलीन अवस्था एवं ध्यानयोग का समावेश है।

तीसरे भेद में मन की उन्मनी अवस्था एवं समाधि-लय (अनुभव दशा) का समावेश है।

इस प्रकार उपर्युक्त तीनों प्रकार की मनोगुप्ति में समस्त प्रकार के योगों का अन्तर्भाव है, क्योंकि उसमें सर्व-संक्लिष्ट वृत्तियों का निरोध होता है और प्रशस्त वृत्तियों की प्रवृत्ति होती है, कहा भी है—

सुदृढ़ पयत्तवावारणं, निरोही-वट्ट-माणाणं।
झाणं करणाणं मयं, ण उ चित्तनिरोधमित्तांगं ॥ (विशेषावश्यक)

"विद्यमान मन, वचन और काय योगरूप करणों की दृढ़तापूर्वक की गई प्रवृत्ति अथवा उनका निरोध ध्यान-योग है, परन्तु केवल चित्त-निरोध को ध्यान नहीं कहा जा सकता।"

उपर्युक्त पंक्ति से सिद्ध होता है कि गुप्ति महान ध्यानयोग है।

जिनागमों में तीनों योगों से ध्यान माना है, अतः तीनों प्रकार की गुप्ति ध्यानस्वरूप हैं। मनोगुप्ति धर्म-ध्यान और शुक्ल-ध्यान का मूल है।

समापत्ति और गुप्ति—मनोगुप्ति के तीनों भेदों को तीनों प्रकार की सामायिक के साथ क्रमशः घटित किया जा सकता है—

(१) साम (मधुर परिणाम रूप) सामायिक में अविद्या-मिथ्यात्व-जनित विकल्पों का अभाव होने से मन कल्पना जाल से मुक्त होता है।

(२) सम (तुल्य परिणाम रूप) सामायिक में चित्त की अत्यन्त स्थिरता होने से निश्चल समता होती है।

(३) सम्म (तन्मय परिणामरूप) सामायिक में आत्मस्वरूप में चित्त की तन्मयता होने से स्वभाव-रमणता होती है, क्योंकि सम्म सामायिक में

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

सम्यग्-दर्शन, ज्ञान और चारित्र ये तीनों शक्कर और दूध की तरह परस्पर मिश्रित होते हैं, जिससे मन आत्मा में लीन बना होता है।

मन की तल्लीनता काया और वचन की स्थिरता के बिना सम्भव नहीं है, अतः त्रिकरणयोग की शुद्धता से ही "आत्म-रमणता" होती है। इस भूमिका में रत्नत्रयी का अभेद प्रतीत होता है, अर्थात् इस अवस्था में किसी भी प्रकार के विकल्प नहीं होते, परन्तु निर्विकल्प, शुद्ध आत्म-तत्त्व का अनुभव होता है।

रत्न से रत्न की कान्ति जिस प्रकार भिन्न नहीं है, उसी प्रकार से ज्ञान आदि गुण भी आत्मा से भिन्न नहीं हैं। आत्मा ज्ञानस्वरूप है अर्थात् ज्ञान ही आत्मा है; सम्यग्दर्शन और सम्यग्चारित्र भी आत्मा ही है।

इस प्रकार गुण एवं गुणी के अभेद से आत्मा के शुद्ध स्वरूप का ध्यान ही "सम्म सामायिक" है और वह मनोगुप्ति का प्रकृष्ट फल है।

सामायिक एवं प्रवचनमाता का कार्य-कारण भाव सामायिक चरण-सित्तरी स्वरूप है और वह मूल गुण है। समिति-गुप्ति करण-सित्तरी रूप है और वह उत्तर गुण है। उत्तरगुण मूलगुण को उद्दीप्त करता है, पुष्ट करता है। सामायिक एवं समिति-गुप्ति चारित्र के ही प्रकार हैं। सामायिक समिति-गुप्ति का कार्य फल है, समिति-गुप्ति उसका साधन है, दोनों का परस्पर कार्य-कारण भाव है।

सामायिक समता के अर्थी व्यक्तियों को मन, वचन, काया की गुप्ति (स्थिरता) का सतत अभ्यास करना चाहिए। यदि गुप्ति में अधिक समय स्थिर न रहा जा सके तो सम्यक् प्रवृत्तिरूप "समिति" का आलम्बन लेना चाहिये, जिससे गुप्ति का (स्थिरता का) अधिकाधिक विकास होगा और उसके फलस्वरूप क्रमशः मधुर परिणाम रूप, समपरिणाम रूप और तन्मय परिणाम रूप सामायिक का अनुभव होगा।

सामायिक जिनशासन की एक अनुपम देन है, अमूल्य सम्पत्ति है।

इस सामायिक की उत्पत्ति "समिति-गुप्ति" के कारण होती है जिससे उसका "प्रवचन माता" नाम यथार्थ है।

समापत्ति एवं गुप्ति— समापत्ति भी मनोगुप्ति स्वरूप है। ध्याता, ध्येय और ध्यान की एकता का नाम ही समापत्ति है, जिसका अन्तर्भाव मनोगुप्ति के पूर्वोक्त प्रकार में हो चुका है। समापत्ति में भी चित्त कल्पना-जाल से मुक्त, समभाव में प्रतिष्ठित और आत्मस्वभाव में तन्मय होता

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

है। समापत्ति को भी योगी पुरुषों की "माता" कहा जाता है। कहा भी है कि—

सर्वज्ञ परमात्मा परम चिन्तामणि हैं। उनके आदर-सम्मान से समापत्ति-समरस की प्राप्ति होती है। वह समापत्ति "योगी-माता" कहलाती है और वह अवश्य ही मोक्ष फलदायिनी है।

निषेधात्मक सामायिक का स्वरूप—

सर्व सावद्य व्यापार का त्याग—सव्वं सावज्जं जोगं पच्चक्खामि—समस्त पाप-व्यापारों का प्रत्याख्यान करता हूँ।

सर्व—निरवशेष, सम्पूर्ण, समस्त प्रकार के।

सावद्यं—अवद्य-निन्दनीय-पाप, पापयुक्त=सावद्य।

योगं—आत्मा के साथ कर्म का सम्बन्ध अथवा मन, वचन, काया के व्यापार।

प्रत्याख्यामि—त्याग करता हूँ, अर्थात् समस्त प्रकार के पाप-युक्त मन, वचन और काया के व्यापारों का त्याग करता हूँ।

भावार्थ—पहले 'मैं सामायिक करता हूँ"—ऐसी प्रतिज्ञा के द्वारा विधेयात्मक सामायिक का निर्देश दिया। अब निषेधात्मक सामायिक का स्वरूप स्पष्ट करता है।

मन, वचन और काया से सम्बन्धित अशुभ व्यापारों का त्याग करना 'सामायिक" है। अशुभ (पाप) वृत्ति को तिलांजलि दिये बिना शुभ (धर्म) प्रवृत्ति नहीं हो सकती। अतः सर्वप्रथम समस्त पाप-प्रवृत्तियों का त्याग करने के लिए प्रेरित होना चाहिये। सावद्य योग का परिहार एवं निरवद्य योग का सेवन ही सामायिक का लक्षण है।

समस्त शुभ-अशुभ योग-व्यापारों का त्याग तो अयोगी अवस्था में शैलेशीकरण के समय ही होता है। उससे पूर्व शुभ (निरवद्य) योगों का व्यापार अवश्य होता है जो समस्त सावद्य-योगों के परिहार से ही सम्भव होता है।

जब तक मन, वचन और काया हिंसा आदि पाप-व्यापारों में संलग्न हैं, तब तक मन से शुभ विचार, वचन से शुभ उच्चार और काया से शुभ आचार कैसे हो सकते हैं? अशुद्धता को दूर करने से ही शुद्धता आती है। अशुभ के परिहार से ही शुभ का आविष्कार होता है। समस्त प्रकार के अशुभ व्यापारों का (दोषों का) अन्तर्भाव "आश्रवतत्व" में हो जाता है।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और अशुभयोग—ये पाँच आश्रव के प्रमुख भेद हैं, अर्थात् कर्म-बन्ध में मुख्य हेतु हैं। आत्मा को दूषित करने वाले होने के कारण ये "दोष" कहलाते हैं। ये पाँचों दोष ज्यों-ज्यों घटते जायें, जीर्ण होते जायें, त्यों-त्यों सामायिक की विशुद्धि में वृद्धि होती जाती है, जैसे—

(१) मिथ्यात्व के अभाव से परम विशुद्ध "सम्यक्त्व सामायिक" प्रकट होती है।

(२) अविरति एवं प्रमाद के त्याग से परम विशुद्ध "सर्वविरति सामायिक" प्राप्त होती है।

(३) कषाय का विच्छेद होने से परम विशुद्ध "यथाख्यात" चारित्र (सामायिक) का लाभ होता है।

(४) मन, वचन और काया के समस्त व्यापारों का निरोध होने से परम विशुद्ध शैलेशीकरण-अयोगी अवस्था प्राप्त होती है।

आश्रव के निरोध का नाम संवर हैं। सामायिक संवर स्वरूप है।

परमात्मा की "आज्ञा" और "सामायिक"—आश्रव संसार का कारण है, संवर मोक्ष का कारण है। इस कारण ही आश्रव का त्याग और संवर का पूर्णतः स्वीकार जिनेश्वरों की आज्ञा है। अन्य समस्त आदेश और अनुष्ठान इसके ही विस्तार हैं।

सामायिक में उपर्युक्त समस्त आश्रवों (सावद्य योगों) का त्याग होता है और समस्त प्रकार के संवर (निरवद्य अनुष्ठान) का सेवन होता है, जिससे सामायिक जिनाज्ञा स्वरूप है। सामायिक के सेवन से जिनाज्ञा का पूर्णतया पालन होता है और जिनाज्ञा का पालन करने से अवश्य मोक्ष प्राप्त होता हैं। अतः समस्त मुमुक्षुओं का "सामायिक" आवश्यक कर्त्तव्य हैं।

इस विधेयात्मक सामायिक एवं निषेधात्मक सामायिक में समस्त मोक्ष-साधक अनुष्ठानों का अन्तर्भाव हो आता है।

"करेमि" शब्द के द्वारा समस्त प्रकार के शुभ अनुष्ठान करने का विधान है।

"पच्चक्खामि" शब्द के द्वारा समस्त प्रकार के अशुभ अनुष्ठानों को त्याग करने का निर्देश है।

"सव्वं" शब्द समस्त मूलगुणों एवं उत्तरगुणों का द्योतक है।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

"जावज्जीवाए" पद से काल के नियम जीवन पर्यन्त की प्रतिज्ञा सूचित होती है। ऐसी प्रतिज्ञा साधु भगवन्तों को होती है।

"यावत्" शब्द परिणाम मर्यादा एवं अवधारणा को सूचित करता है।

(१) परिणाम—जब तक मेरी आयु है, तब तक समस्त सावद्य योगों का मैं परित्याग करता हूँ।

(२) मर्यादा—प्रत्याख्यान के समय से प्रारम्भ करके मृत्यु तक मेरे समस्त सावद्य-योगों का त्याग है।

(३) अवधारणा—इस वर्तमान जीवन तक मेरी यह प्रतिज्ञा है, भावी जीवन की नहीं है, क्योंकि देव आदि भव में अविरति का उदय होने से प्रतिज्ञा भंग का प्रसंग आ जाता है, तथा इस जीवन के पश्चात् भावी जीवन में मेरे छूट है अर्थात् मैं प्रतिज्ञामुक्त हूँ ऐसा विधान भी नहीं है क्योंकि इस छूट में भोग की आकांक्षा विद्यमान है।

तीन योग एवं तीन करण (४, ५, ६) तिविहं (न करेमि, न कारवेमि करंतंपि अन्नं न समणुजाणामि)

(, ८, ९) तिविहेणं (मणेणं, वायाए, कायेणं)

तीन योग एवं तीन करण से अर्थात् मन, वचन और काया से कोई भी सावद्य कार्य मैं स्वयं नहीं करूँगा, अन्य से नहीं कराऊँगा तथा करने वाले की अनुमोदना तक नहीं करूँगा और यह भी भूतकाल, भविष्यतकाल और वर्तमान काल से सम्बन्धित।

अशुभ अथवा शुभ प्रवृत्ति जिस प्रकार काया से हो सकती है, उसी प्रकार से मन-वचन से भी हो सकती है। यदि कोई प्रवृत्ति स्वयं न करे परन्तु दूसरे से कराये तो भी उसमें उसकी अनुमति एवं अनुमोदना होने से उस-उस प्रवृत्ति का वह साझीदार हो जाता है। इस कारण से ही सामायिक की प्रतिज्ञा में तीन योग और तीन करण से सावद्य व्यापार का परित्याग किया गया है।

योग—करने, कराने और अनुमोदन करने के रूप में व्यापार मन, वचन और काया रूप करण के अधीन है। प्रत्याख्यान में योग की प्रधानता बताने के लिए प्रथम उसका निर्देश दिया है।

ये करण और योग भी जीव के ही परिणामविशेष हैं, जिससे निश्चय-नय से जीव के साथ उनकी एकता है। इस कारण से ही निश्चय-नय से हिंसा में परिणत आत्मा ही हिंसा है और अहिंसा में परिणाम वाली

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

आत्मा ही अहिंसा है। प्रमत्त को हिंसक और अप्रमत्त को अहिंसक कहा जाता है।

प्रश्न—वर्तमान एवं भविष्यत्काल के पाप का प्रत्याख्यान (संवरण) तो हो सकता है, क्योंकि उस पाप का सेवन नहीं हुआ, परन्तु भूतकाल में जो पाप किये जा चुके हैं, उनका संवरण किस प्रकार हो सकता है ?

समाधान—भूतकाल में किये गये पाप की निन्दा होती है अथवा भूतकाल में मुझसे जो पाप हो गये वह ठीक नहीं हुआ ऐसा पश्चात्ताप अर्थात् पाप की अनुमोदना का भी त्याग होता है, इस प्रकार भूतकालीन पाप की अविरति का परित्याग होता है, अतः भूतकाल का पच्चक्खाण युक्ति-संगत है।

प्रश्न—सूत्र में "करंतपि अन्नं" किस लिये है ?

समाधान—(१) दोनों शब्दों के मध्य का "अपि" शब्द सम्भावना के अर्थ में है। वह यह सूचित करता है कि प्रमाद आदि के पाप में प्रवृत्ति करती मेरी आत्मा की "यह तूने अच्छा किया है" ऐसी अनुमोदना नहीं करके "मिच्छामि दुष्कृतम्" देकर निवृत्त होता हूँ, तथा अन्य कोई व्यक्ति पाप करता हो, कराता हो, अथवा उसकी अनुमोदना करता हो, उसकी भी मैं प्रशंसा नहीं करूँगा।

जो स्वयं पाप-कर्म करते हों उनसे पाप-कर्म नहीं कराऊँगा।

जो दूसरों से पाप प्रवृत्ति कराते हों उनसे भी नहीं कराऊँगा।

तथा जो पाप प्रवृत्ति की अनुमोदना करते हों उनकी भी मैं अनुमोदना नहीं करूँगा। सम्भवतः इन सब प्रकारों का समावेश "अपि" शब्द से होता है।

(२) अथवा "अपि" शब्द वर्तमानकाल के साथ भूतकाल और भविष्यतकाल की प्रतिज्ञा का भी सूचक है। भूतकाल में यदि मैंने स्वयं पाप किया हो, दूसरों से कराया हो, अथवा किसी के पाप-कार्य की प्रशंसा की हो उन सबकी मैं अनुमोदना नहीं करूँगा, तथा भविष्य में जो कोई पाप-प्रवृत्ति करेगा, दूसरों से करायेगा अथवा पाप की प्रशंसा करेगा, उसकी भी मैं अनुमोदना नहीं करूँगा।

(३) अन्य प्रकार से भी इस प्रतिज्ञा में तीनों कालों का समावेश है। "सर्व" शब्द से तीनों कालों का संग्रह किया है, और "अपि" शब्द से तीन काल से सम्बन्धित कर्तृ-क्रिया का कथन है। जिस प्रकार वर्तमान में मैं पाप-कार्य नहीं करूँगा, नहीं कराऊँगा अथवा करने वाले को अनुमोदना

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

भी नहीं करूँगा, उसी प्रकार से भूतकाल और भविष्यतकाल में भी समझ लें। परन्तु इतनी विशेषता मुख्यतः लक्ष्य में रखें कि भूतकाल के पापों की अनुमोदना का त्याग हो सकता है और भविष्यतकाल का प्रत्याख्यान भी इस जीवन के लिए ही हो सकता है।

अतीत काल के पाप-कर्म का प्रतिक्रमण, वर्तमान काल के पाप-कर्म का संवरण और भविष्यतकाल के पाप-कर्म का प्रत्याख्यान होता है।

चार प्रतिज्ञा—(१०, ११, १२, १३) तस्स भन्ते पडिक्कमामि, निंदामि, गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि।

(१) हे भगवन्! भूतकाल में किये गये अनेक पापकर्मों का मैं पश्चात्ताप करता हूँ।

(२) हे भगवन्! भूतकाल में किये गये अनेक पाप-कर्मों की मैं निन्दा करता हूँ।

(३) हे भगवन्! भूतकाल में किये गये अनेक पाप-कर्मों की मैं गुरु-साक्षी से गर्हा—विशेष निन्दा करता हूँ।

(४) तथा उन पाप-व्यापारों से मलिन बनी मेरी आत्मा का मैं त्याग करता हूँ।

विशेषार्थ—(१) प्रतिक्रमण "ज्ञान-स्वरूप" है, क्योंकि उसमें पाप का पाप के रूप में यथार्थ बोध हुआ है, जिससे पाप का सच्चा पश्चात्ताप होने से प्रतिक्रमण हो सकता है, अथवा प्रतिक्रमण पूर्व दोषों (मल) की शुद्धि के लिए होने से "विरेचन" के स्थान पर है।

(२) पाप की निन्दा "सम्यग्दर्शन" स्वरूप है, क्योंकि उसमें पाप को पाप के रूप में श्रद्धापूर्वक स्वीकार किया गया है, अथवा पाप निन्दा अपथ्य भोजन के परित्याग के समान है, क्योंकि सम्यक्त्व के द्वारा मिथ्यात्व, शंका, कांक्षा आदि दूर होते हैं।

(३) पाप की गर्हा "चारित्र" स्वरूप है, क्योंकि उसमें गुरु-साक्षी से पाप का परिहार होता है, अथवा गर्हा पथ्य भोजन के स्थान पर है जो पथ्य भोजन की तरह आत्म-गुणों को पुष्ट करती है।

(४) आत्म-विसर्जन—पापयुक्त आत्मा का विसर्जन "तप" स्वरूप है, क्योंकि उसमें पाप न करने का प्रबल पुरुषार्थ है और वह (सावद्य आत्म-विसर्जन) आत्म-गुणों को रसायन की तरह पुष्ट करता है।

सामान्य रीति से त्रिकाल विषयक पाप की प्रतिज्ञा में से भूतकालीन पाप का प्रतिक्रमण होता है। "तस्स" शब्द के द्वारा भूतकाल विषयक पाप ग्रहण किया गया है।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

'भन्ते ! हे भगवन्,' इस पद की व्याख्या पूर्व में की गई है तदनुसार समझें ।

प्रश्न—प्रारम्भ में कथित अर्थ की अनुवृत्ति अन्त तक चल सकती है, तो फिर "भन्ते" का प्रयोग पुनः क्यों किया गया है ?

समाधान—(१) आपका कथन सत्य है, परन्तु केवल अनुवृत्ति से विधि-विधान की प्रवृत्ति नहीं होती, प्रयत्न करने से होती है । यहाँ भी पूर्व कथित अर्थ के स्मरणार्थ प्रयत्न किया गया है ।

(२) अथवा प्रस्तुत सामायिक की क्रिया समाप्त करके साधक उस सामायिक के दोषों की विशुद्धि के लिये उसके (सामायिक के) अतिचारों का निवर्तन आदि करने के लिए "भन्ते" शब्द का पुनरुच्चार करता है ।

(३) अथवा समस्त आवश्यक कर्तव्य गुरु को पूछ कर उनकी सम्मति से करने चाहिये । अतः यहाँ भी प्रतिक्रमणरूप सामायिक के अतिचारों की शुद्धि के लिए पुनः गुरु को पूछता है ।

(४) अथवा तो यह "भन्ते" शब्द सामायिक क्रिया के प्रत्यर्पण-निवेदन के रूप में है । कहा भी है कि गुरु की आज्ञा से प्रारम्भ की गई क्रिया की समाप्ति के समय गुरु को निवेदन करना चाहिए कि—"यह क्रिया समाप्त कर दी गई है ।"

निन्दा एवं गर्हा दोनों शब्द सामान्यतया जुगुप्सा का अर्थ सूचित करते हैं, फिर भी गर्हा के द्वारा विशेष जुगुप्सा होती है । निन्दा आत्म-साक्षी से होती है और गर्हा गुरु की साक्षी से होती है ।

प्रश्न——जुगुप्सा किसकी करनी चाहिये ?

समाधान—भूतकाल में सावद्य-पाप करने वाली, अश्लाघ्य-अप्रशस्त-भूत बनी अपनी आत्मा की जुगुप्सा करनी चाहिए । पाप करने वाले दूसरे व्यक्ति की नहीं परन्तु पाप करने वाली स्वयं की आत्मा की ही निन्दा-गर्हा करनी होती है, आत्म-निन्दा गुण है, पर-निन्दा दोष है ।

वोसिरामि-व्युत्सृजामि—वि=विविध प्रकार से अथवा विशेष से, उत्=प्रबलता से, सृजामि=त्याग करता हूँ, अथवा सामायिक के तीन प्रकार हैं—सम्यक्त्व, श्रुत और चारित्र । उनके विलोम मिथ्यात्व, अज्ञान एवं अविरति हैं । वोसिराम=अपने उन तीनों दोषों का विशेष प्रकार से त्याग करता हूँ । यह है वोसिराम शब्द का भावार्थ ।

इस प्रकार "सामायिक सूत्र" में त्याज्य क्या और आदरणीय क्या ? आदि बिन्दुओं पर संक्षेप में विचार किया गया । ※

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

विभाग—३

परिशिष्ट

प्रस्तुत विभाग में वर्णित लेखों का पठन-मनन-चिन्तन करने से सामायिक धर्म की परिपूर्णता, विशालता और उपादेयता का स्पष्ट ध्यान आता है।

योगशास्त्रों में प्रसिद्ध "समापत्ति" क्या है? उसका सामायिक, कायोत्सर्ग और गुणश्रेणी आदि के साथ कार्य-कारण-भाव का सम्बन्ध है, आदि बातों पर प्रकाश डाला गया है।

गुणश्रेणी एवं कायोत्सर्ग भी सामायिक के ही अंग हैं। इन दोनों के द्वारा आत्म-परिणामों की विशेष-विशेष विशुद्धि होने पर सामायिक—समताभाव की ही अभिवृद्धि होती है—आदि बातों को प्रस्तुत लेखों में स्पष्ट किया गया है।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

१. समापत्ति और सामायिक

समापत्ति—सम की आपत्ति-प्राप्ति=समता की प्राप्ति ।

सामायिक—सम का आय-लाभ, प्राप्ति ।

इस प्रकार समापत्ति और सामायिक एकार्थक (पर्यायवाची) एक ही अर्थ बताने वाले हैं परन्तु उनमें भेद केवल कार्य-कारणभाव का है ।

ध्यान का फल समता रूप सामायिक है ।

(१) मिथ्यादृष्टि अभव्य को भी श्रुत सामायिक अर्थात् द्रव्य-मिथ्या श्रुत प्राप्त हो सकता है । उसी प्रकार से उसे द्रव्य[1] समापत्ति घटित हो सकती है, परन्तु भाव-समापत्ति नहीं हो सकती ।

(२) मन्द मिथ्यात्वदशा में चरम-यथा-प्रवृत्तिकरण के समय तथा अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण के समय भी श्रुत सामायिक की तरह उसकी हेतुभूत समापत्ति भी अवश्य होनी चाहिये ।

(३) सम्यक्त्व सामायिक, देशविरति सामायिक और सर्वविरति सामायिक को प्राप्त करने के समय समापत्ति अवश्य सिद्ध होती है ।

(४) **उसके आगे की अप्रमत्त आदि भूमिकाओं में शुद्ध सामायिक**—"आया सामाइये" अर्थात् आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप में ही परिणत होती है, उस समय भी उसकी अनन्तर कारणभूत ध्याता, ध्येय एवं ध्यान की एकता रूप समापत्ति अवश्य होती है ।

स्वभूमिका के योग्य अनुष्ठान की भावपूर्वक आराधना होने से आत्मवीर्य-शक्ति पुष्ट होती है, जिससे ध्यान की निर्मलता, स्थिरता एवं तन्मयता होने पर समापत्ति सिद्ध होने से स्थिर-समता भाव प्रकट होता है । वही "शुद्ध सम्यक् सामायिक" है । उससे शुक्लध्यान प्रकट होता है और शुक्लध्यान से क्रमशः केवलज्ञान और सिद्धि पद प्राप्त होता है ।

इस प्रकार "समापत्ति" सामायिक-समता का कारण है और समता

---

१ द्रव्य—विषयक समापत्ति—अर्थात् तीन योगों, तीन करणों से होता विषय का ध्यान, अर्थात् विषय समापत्ति ।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

आगे सिद्ध होने वाली समापत्ति का कारण बनती है। इस प्रकार दोनों का परस्पर कार्य-कारणभाव होने से ये एक दूसरी की वृद्धि करने वाली हैं।

ध्यानरूप समापत्ति से समता की वृद्धि और समता से समापत्ति की विशुद्धि होती है।

न साम्येन विना ध्यानं, न ध्यानेन विना च तत्।
निष्कंपं जायते तस्मात् द्वयमन्योन्य कारणम्॥ (योगशास्त्र)

समापत्ति का लक्षण –

मणेरिवाभिजातस्य, क्षीणवृत्तेरसंशयम्।
तात्स्थ्यात्तद जनत्वाच्च, समापत्ति प्रकीर्तिता॥
(उपा० यशो वि० म० द्वा० द्वा० २-१०)

निर्मल मणि की तरह क्षीणवृत्ति युक्त निर्मल चित्त के ध्येय में स्थिरता और तन्मयता होने पर समापत्ति सिद्ध होती है।

लाल पीले पुष्प के समीपस्थ निर्मल एवं स्थिर स्फटिक में पुष्प के रंग की परछाई पड़ने से स्फटिक भी लाल अथवा पीला प्रतीत होता है, उसी प्रकार से अन्तरात्मा जब विषय-कषाय की मलिन वृत्तियों को दूर करके निर्मल बनती है और स्थिरतापूर्वक परमात्मा का ध्यान करती है, तब "परमात्मा ही मैं हूँ" ऐसा "सोऽहं—सोऽहं" का अस्खलित अनाहत नाद प्रकट होता है और उक्त नाद दीर्घ घंटा-नाद की तरह क्रमश शान्त-मधुर होने पर आत्मा और परमात्मा की एकता का अनुभव होता है, तथा परम आनन्द, शीतलता और सुख की अनुपम मस्ती में तल्लीनता होती है; उसे समापत्ति कहते हैं।

मणाविव प्रतिच्छाया समापत्ति परात्मनः।
क्षीणवृत्तौ भवेद् ध्यानादन्तरात्मनि निर्मले॥

मणि की तरह निर्मल, क्षीण वृत्तियुक्त, अन्तरात्मा में एकाग्र ध्यान के द्वारा परमात्मा का जो प्रतिबिम्ब पड़ता है वही "समापत्ति" है अथवा अन्तरात्मा में परमात्मा के गुणों का अभेद आरोप करना समापत्ति है। वह अभेद आरोप गुणों के संसर्गारोप से सिद्ध होता है। संसर्गारोप अर्थात् सिद्ध परमात्मा के अनन्त गुणों में अन्तरात्मा का एकाग्र उपयोग, ध्यान अथवा स्थिरता होना। संसर्गारोप भी चित्त की निर्मलता होने से ही होता है।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

समापत्ति की सामग्री—

(१) **निर्मल ध्याता** निर्मल अन्तरात्मा (देह आदि भावों का साक्षी मात्र)

(२) **शुभ ध्येय** ध्येय अशुद्ध हो तो समापत्ति नहीं हो सकती। अतः ध्येय की शुद्धि अत्यन्त आवश्यक है।

(३) **शुभ ध्यान**— आदर-सम्मान पूर्वक एकाग्र शुभ चिन्तन।

परमात्म समापत्ति सिद्ध करने के लिए चित्त को निर्मल, स्थिर एवं तन्मय बनाना चाहिये अथवा शास्त्रोक्त किसी भी अनुष्ठान के विधिपूर्वक पालन से जब चित्त की निर्मलता, स्थिरता एवं तन्मयता प्राप्त होती है, तब परमात्मा के साथ समापत्ति सिद्ध होती है।

नाम आदि निक्षेप एवं समापत्ति—

श्री "अनुयोग द्वार" एवं विशेषावश्यक भाष्य आदि ग्रन्थों में चार निक्षेप का विस्तृत विवेचन किया गया है।

नाम, स्थापना, द्रव्य, भाव ये चारों वस्तु के ही पर्याय हैं। भाव साध्य है। नाम, स्थापना और द्रव्य उसके साधन हैं। किसी भी वस्तु का स्पष्ट स्वरूप इन चार प्रकार के निक्षेपों के चिन्तन के बिना समझ में नहीं आता।

प्रस्तुत में समापत्ति के स्वरूप का विचार चार निक्षेपों के द्वारा करना है, ताकि आगम-ग्रन्थों के गूढ़ रहस्यों को भी सरलतापूर्वक समझा जा सके।

(१) **नाम समापत्ति** - किसी भी जीव अथवा अजीव वस्तु का नाम 'समापत्ति" हो तो वह नाम मात्र से समापत्ति कहलाती है।

(२) **स्थापना समापत्ति**—समापत्ति ये चार अक्षर अथवा उनकी आकृति स्थापना समापत्ति है।

(३) **द्रव्य समापत्ति** -भाव समापत्ति की पूर्व अथवा उत्तर अवस्था, अथवा समापत्ति के स्वरूप का अनुपयुक्त (उपयोग रहित) ज्ञाता द्रव्य समापत्ति है।

(४) **भाव समापत्ति**– आगम और नोआगम दो भेद हैं।

(१) **आगम[1] से भाव समापत्ति**—समापत्ति के स्वरूप को स्पष्टतः

---

१ यहाँ आगम का अर्थ श्रुतज्ञान है, उसके उपयोगयुक्त समापत्ति।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

जान कर उसमें उपयोग वाला ध्याता ही आगम से भाव-समापत्ति कहलाता है।

(२) **नो[३] आगम से भाव समापत्ति** – ध्याता, ध्येय और ध्यान से एकता नो आगम से भाव समापत्ति कहलाती है।

इस प्रकार जिस वस्तु का वर्णन प्रस्तुत में विवक्षित होता है, उस वस्तु का नोआगम (की अपेक्षा से) भाव-निक्षेप के द्वारा निर्देश दिया जाता है और आगम से भाव निक्षेप के द्वारा प्रस्तुत पदार्थ के उपयोग वाले ज्ञाता का निर्देश होता है।

जिस प्रकार योगशास्त्र में ध्येयाकार में तन्मय बने ध्याता का निर्देश समापत्ति के द्वारा दिया जाता है, उसी प्रकार से आगम ग्रन्थों में ज्ञेयाकार में तन्मय बने ज्ञाता का निर्देश आगम से भाव निक्षेप के द्वारा दिया जाता है।

"पातंजल योगदर्शन" में समापत्ति का लक्षण निम्नलिखित है—

"क्षीणवृत्तेरभिजातस्य मणे गृहीत-ग्रहण-ग्राह्येषु तत्स्थ्य तदञ्जनता समापत्ति ॥"

उत्तम जाति की स्फटिक मणि के समान राजस एवं तामस वृत्ति रहित निर्मल चित्त की गृहीता, ग्रहण और ग्राह्य (ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय) विषयों में स्थिरता होकर तन्मयता (वह स्वरूपमय स्थिति) हो, वह "समापत्ति" है। उक्त समापत्ति यदि शब्द अर्थ और ज्ञान के विकल्पों से युक्त हो तो वह 'सवितर्क" अथवा "सविकल्प" समापत्ति कहलाती है। यदि शब्द एवं ज्ञान से रहित केवल ध्येयाकार (अर्थ) के रूप में प्रतीत होती हो तो वह "निवर्तक" अथवा "निर्विकल्प" समापत्ति कहलाती है।

उपर्युक्त दोनों भेद स्थूल-भौतिक पदार्थ-विषयक समापत्ति के हैं।

सूक्ष्म परमाणु आदि विषयक वाली समापत्ति को "सविचार" एवं "निर्विचार" समापत्ति कहते हैं।

इन चारों प्रकार को समापत्ति को "संप्रज्ञात समाधि" भी कही जा सकती है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है जो कि जब ज्ञाता के उपयोग की ज्ञेयाकार के रूप में परिणति होती है, तब वह समापत्ति कहलाती है।

---

३ नोआगम का अर्थ—आगम के एक अंश का अभाव, यहाँ श्रुतज्ञान और ध्यानरूप क्रिया दोनों की विवक्षा होने से निषेधक "नो" का प्रयोग आगम के एकदेश के निषेधार्थ हुआ है।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

आगम की दृष्टि से—जिन पदार्थों का ज्ञाता उनके उपयोगवाला हो तो उक्त ज्ञाता भी तत्परिणत होने से आगम से भाव निक्षेप के द्वारा वह तत्स्वरूप कहलाता है, जैसे नमस्कार[1] में उपयोग वाली आत्मा नमस्कार परिणत होने से वह नमस्कार कहलाती है।

ध्येयरूप अरिहन्त परमात्मा के चार निक्षेप—

(१) **नाम अरिहन्त** - अरिहन्त परमात्मा का नाम।

(२) **स्थापना अरिहन्त**—अरिहन्त परमात्मा की मूर्ति।

(३) **द्रव्य अरिहन्त** - अरिहन्त परमात्मा की पूर्व अवस्था अथवा सिद्ध अवस्था।

(४) **भाव अरिहन्त** - दो भेद—

(१) **नोआगम से भाव अरिहन्त**—समवसरण स्थित अरिहन्त परमात्मा।

(२) **आगम से भाव अरिहन्त** - अरिहन्त परमात्मा के उपयोग में तदाकार बनी आत्मा आगम से "भाव अरिहन्त" कहलाती है। यही बात प्रस्तुत समापत्ति के स्वरूप में भी घटित होती है।

ध्येय रूप परमात्मा के ध्यान में तन्मय बनी आत्मा की समापत्ति सिद्ध हुई कहलाती है, और वही ध्याता आगम से भाव निक्षेप में 'अरिहन्त" कहलाता है। इस प्रकार "आगम से भाव निक्षेप" एवं "समापत्ति" के विषय की समानता सूक्ष्म दृष्टि से विचारणीय है।

(१) **नाम एवं स्थापना निक्षेप**—अरिहन्त एवं सिद्ध परमेष्ठियों के नाम—स्मरण एवं मूर्तियों के दर्शन से चित्त निर्मल बनता है।

(२) **द्रव्य निक्षेप** अरिहन्त आदि परमेष्ठियों की पूर्व अथवा उत्तर अवस्था के चिन्तन से चित्त स्थिर होता है।

(३) **भाव-निक्षेप**—नो आगम से समवसरण स्थित अरिहन्त के ध्यान से चित्त तन्मय होने पर समापत्ति सिद्ध होती है, तब साधक आगम से भाव निक्षेप से अरिहन्त कहलाता है। नाम आदि प्रत्येक निक्षेप की साधना से भी समापत्ति सिद्ध हो सकती है, परन्तु जो साधक 'आगम से भाव निक्षेप से" अरिहन्त अथवा सिद्ध बनता है, वही क्रमानुसार "नोआगम से भाव निक्षेप से" अरिहन्त अथवा सिद्ध बन सकता है।

---

१ "नमोक्कार परिणओ जो तओ नमोक्कारो।" (विशेषावश्यक—गाथा २९३२)

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

आगम-नोआगम तणो भाव ते जाणो साचो रे।
आतम भावे थिर होजो, पर भावे मत राचो रे॥

(उ० यशोवि० म०)

आगम से और नोआगम से भाव ही वास्तविक भाव है, वस्तु का मूल स्वरूप है। अतः आत्म-भाव में स्थिर रहना चाहिए, पर-भाव में प्रमुदित नहीं होना चाहिये अर्थात् बहिरात्म भाव को दूर करके अन्तरात्म-भाव में स्थिर होना चाहिये, ताकि परमात्म-स्वरूप में तन्मय होने पर आत्म-स्वभाव प्रकट होता है।

शेष नाम आदि दान, शील, तप आदि भाव उत्पन्न करने के लिए हैं।

इस प्रकार से शास्त्रोक्त समस्त अनुष्ठान आत्मा के पूर्ण, शुद्ध स्वरूप को प्रकट करने के लिये ही हैं। आत्मा का शुद्ध स्वरूप परमात्मध्यान में तन्मय हुए बिना प्राप्त नहीं हो सकता।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

२. समापत्ति और समाधि

समापत्ति ध्यान विशेष है। ध्यान के सतत अभ्यास से ध्याता ध्यान के द्वारा ध्येय के रूप में परिणमित होता है वह "समापत्ति" है, और उसका फल समाधि (समता) की प्राप्ति है। योग के यम-नियम आदि आठ अंगों में उसका अन्तिम स्थान है। यम, नियम, प्रत्याहार, धारणा अथवा ध्यान का अन्तिम ध्येय "समाधि" है। किसी भी योग-साधना से जब समापत्ति अथवा समाधि सिद्ध होती है तब ही उस योग-साधना की सफलता हुई मानी जाती है।

समापत्ति का निमित्त आदरपूर्वक सदनुष्ठान का सेवन है और समाधि का अनन्तर कारण समापत्ति है, जिसके कारण में कार्य (उपचार) की अपेक्षा से समापत्ति को सामायिक (समाधि) भी कही जा सकती है, क्योंकि सामायिक, समतायोग, शम, चारित्र, संवर आदि इसके ही पर्याय हैं।

(१) राग-द्वेष रहित (अवस्था) भाव ही "सम" है और उसकी प्राप्ति ही "सामायिक" है। विकल्प-विषय से रहित, सदा स्वभाव के आलम्बन से युक्त, ज्ञान की परिपक्व दशा को "शम" कहते हैं। अविद्या—अनादिकालीन मिथ्या-वासना-वश इष्ट अथवा अनिष्ट पदार्थों में होने वाली इष्ट-अनिष्ट कल्पना का सम्यग्ज्ञान के द्वारा त्याग करना ही "समता-योग" है।

निज आत्म-स्वभाव में रमण करना ही निश्चय चारित्र है। विषय-कषाय की वृत्तियों, अव्रत अथवा अशुभ योग का निरोध करना ही "संवर" है।

ये समस्त लक्षण समापत्ति अथवा समाधि में भी घटित होते हैं, क्योंकि चित्त की निर्मलता, स्थिरता और तन्मयता के द्वारा 'समापत्ति" सिद्ध होती है और उससे समाधि प्रकट होती है।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

समग्र मोक्षमार्ग का (समापत्ति) समाधि में समावेश—

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र ही मोक्षमार्ग है। समग्र मोक्ष-साधक सदनुष्ठानों का समावेश इस रत्नत्रयी में है। इस सम्यग्-रत्नत्रयी के द्वारा क्रमानुसार विशुद्ध-विशुद्ध समाधि (समता) प्राप्त होती होने से इसे "दर्शन-समाधि", "ज्ञान-समाधि", एवं "चारित्र-समाधि" भी कहते हैं।

कर्म के क्षय, क्षयोपशम अथवा उपशम की अपेक्षा से समाधि के अनेक भेद होते हैं, तो भी उन सब भेदों का समावेश दर्शन आदि तीन समाधियों में हो जाता है।

दर्शन-समाधि—सम्यग्-दर्शन की प्राप्ति के समय जो आनन्द, सुख, समता और शान्ति का अनुभव होता है वह "दर्शन-समाधि" कहलाती है। उसके मुख्य तीन भेद हैं—(१) क्षयोपशम दर्शन-समाधि, (२) उपशम दर्शन-समाधि और (३) क्षायिक दर्शन-समाधि। इन तीनों समाधियों को प्राप्त करने के लिए उससे पूर्व भी अनेक प्रकार की अवान्तर समाधियें सिद्ध करनी पड़ती हैं; जैसे—

(१) योग की प्रथम मित्रा दृष्टि में "अवंचकत्रय" की प्राप्ति से सद्गुरु का योग आदि प्राप्त होता है। "यह अवंचक एक प्रकार की[1] अव्यक्तसमाधि ही है।"

(२) योग की चतुर्थ दीप्रा दृष्टि में गुरु-भक्ति के प्रभाव से समापत्ति समाधि विशेष आदि के योग से तीर्थंकर भगवान का दर्शन होना बताया है। समापत्ति समाधि विशेष ही है और वह यहाँ चरम-यथाप्रवृत्तिकरण की विशुद्धि के प्रकर्ष से सिद्ध होती है (योगदृष्टि श्लोक ६४)।

(३) अपूर्वकरणरूप समाधि के द्वारा ग्रन्थि (राग-द्वेष की तीव्र गाँठ) का भेदन होता है।

(४) अनिवृत्तिकरण रूप समाधि के द्वारा नियमा "सम्यग्-दर्शन" रूप समाधि प्रकट होती है।

ज्ञान-समाधि—(१) क्षायोपशमिक ज्ञान-समाधि और (२) क्षायिक (केवल) ज्ञान-समाधि रूप है।

(१) **क्षायोपशमिक ज्ञान समाधि**— मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यव इस

---

१. अवंचक—अव्यक्त समाधिरेवेष तदधिकारेपाठात्।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

क्षायोपशमिक ज्ञान के चार प्रकार हैं। सम्यग्दर्शन के साथ चार, तीन अथवा दो ज्ञान की उपस्थिति में एक साधक के आधार पर भी विशुद्धि के तारतम्य से अनेक प्रकार की समाधियाँ घटित होती हैं, तब अनेक साधकों की अपेक्षा से तो समाधि के अनेक भेद होने की बात तो स्पष्ट समझी जा सकती है।

(२) **क्षायिक (केवल) ज्ञान समाधि**—एक अथवा अनेक व्यक्तियों की अपेक्षा से भी एक ही प्रकार की होती है, क्योंकि वह पूर्णतः शुद्ध है। पूर्ण शुद्धता के भेद नहीं होते।

(३) **चारित्रसमाधि**—मुख्यतः ये तीन प्रकार की होती है—(१) क्षयोपशम-चारित्र समाधि, (२) उपशम चारित्र समाधि, (३) क्षायिक चारित्र समाधि। चारित्रमोहनीय कर्म के क्षयोपशम, उपशम तथा क्षय से ये तीनों उत्पन्न होती हैं। देशविरति चारित्र-समाधि, सर्वविरति चारित्र-समाधि और अप्रमत्त आदि गुण-स्थान में उत्पन्न होने वाली विशुद्ध-विशुद्धतर समाधि के अनेक भेदों का समावेश उपर्युक्त तीन प्रकार की चारित्र-समाधियों में हो चुका है। विस्तार से तो चारित्र (संयम) के असंख्य अध्यवसाय-स्थान होने से चारित्र-समाधि के असंख्य भेद हो सकते हैं।

अन्त में समग्र कर्मों का क्षय भी शैलेशी की अन्तिम चारित्र समाधि से ही होता है। अतः योग-बिन्दु में स्पष्ट कहा है—

शैलेशीसंज्ञिताश्चेह - समाधिरुपजायते।
कृत्स्नकर्मक्षयतोऽयं - गीयते वृत्ति-संक्षयः ॥ ४९५ ॥

"शैलेशीकरण रूप समाधि से समग्र कर्मों का क्षय होता है, उस "शैलेशी" नामक समाधि को ही "वृत्तिसंक्षय" योग कहते हैं और वह समस्त योगों का राजा है।"

समाधि का स्पष्ट लक्षण—

तथा तथा-क्रियाविष्टः समाधिरभिधीयते।
निष्ठाप्राप्तस्तु योगज्ञैर्मुक्तिरेष उदाहृतः ॥ ४९९ ॥

वृत्ति-तथा तथा, तेन तेन प्रकारेण, क्रिया विस्टस्तत्तत्कर्म-क्षपणाय प्रवृत्तोयोग समाधिरभिधीयते—उस-उस प्रकार से—उस-उस कर्म का क्षय करने के लिए प्रवृत्त योग ही "समाधि" है।

निष्ठाप्राप्तस्तु-कर्मक्षमपणपर्यन्त प्राप्तः पुनः योगज्ञैः—अध्यात्मादि-योग-विशारदै मुक्तिरेष योग उदाहृतः—निरूपितः।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

समस्त कर्मों के क्षयपर्यन्त को (अन्त को) प्राप्त योग को ही अध्यात्म-योग के विशारद "मुक्ति" कहते हैं।

समाधि के इस लक्षण से योग एवं समाधि को एकता स्पष्ट समझी जा सकती है, तथा वे-वे मिथ्यात्व आदि कर्म-क्षय (क्षयोपशम अथवा उपशम) के लिए प्रवृत्त ध्यान आदि योग भी "समाधि विशेष" है। अतः अवंचक योग, चरमयथाप्रवृत्तिकरण, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण तथा सम्यग्दर्शन आदि एवं समस्त प्रकार की समापत्ति, गुण श्रेणी तथा सम्यग् दृष्टि आदि चार से चौदह गुणस्थानकों आदि को भी अपेक्षा से अव्यक्त अथवा व्यक्त समाधि-विशेष (भी) कहा जा सकता है।

अन्य दर्शनों में बताई गई संप्रज्ञात समाधि (समापत्ति) असंप्रज्ञात सपाधि, धर्ममेघ समाधि, अमृतात्मा, भवशक्रशिवोध्य, सत्वानन्द समाधि, विजय समाधि और आनन्द समाधि आदि समस्त प्रकार की समाधियों का उपर्युक्त समाधियों में समावेश हो चुका है।

(योगबिन्दु श्लोक ४१९, ४२१, ४२२)

तथा स्थितप्रज्ञ की सहज स्थिति का भी "चारित्र समाधि" में समावेश किया जा सकता है, अर्थात् ऐसी कोई समाधि, प्रज्ञा अथवा योग विशेष नहीं है जिसका उपर्युक्त समाधि में अन्तर्भाव न हुआ हो।

अतः समस्त प्रकार के अध्यात्म आदि योगों का भी समाधि में ही अन्तर्भाव हो चुका होने से समग्र मोक्ष-मार्ग की साधना समाधि में समाविष्ट है, यह स्पष्ट समझा जा सकता है।

"समाधि और समापत्ति की कुछ एकता है।"

मनुष्य जब तीनों योगों को एकाग्रता करता है तब ही वह किसी भी नवीन वस्तु की खोज कर सकता है अथवा अपूर्व आध्यात्मिक भूमिका में प्रवेश कर सकता है।

समापत्ति अर्थात् मन, वचन, काया की निर्मलता, स्थिरता, एकाग्रता एवं तन्मयता होना, ध्येय पदार्थ में चित्त को एकाकार करना, जिससे अपना स्वरूप भी ध्येय के रूप में ज्ञात हो। जब-जब आत्मा प्रबल पुरुषार्थ के द्वारा आत्मवीर्य प्रकट करके कठिन-मिथ्यात्व आदि कर्म-पुंजों का क्षय करने के लिये तत्पर होती है, तब-तब उसे मन, वाणी और शरीर को अत्यन्त एकाग्र करना पड़ता है। उसे ही "समपत्ति" कहते हैं, जिसके फल-स्वरूप आत्मा अमुक समय तक सहज स्वाभाविक अनुपम समता-सुख का

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

अनुभव करती है, उसे ही "समाधि" जानें और वह आगे की "समापत्ति" में कारणभूत बनती है। इस प्रकार उत्तरोत्तर कार्य-कारण-भाव सिद्ध होता होने से दोनों की भिन्नता होने पर भी कथंचित् एकता है।

समापत्ति का फल—

गुरु-भक्ति प्रभावेन, तीर्थकृद्-दर्शनं मतं।
समापत्त्यादि भेदेन, निर्वाणैकनिबन्धनम् ॥ ६४ ॥
(योगदृष्टि)

ध्याता, ध्येय एवं ध्यान की एकता होने को समापत्ति कहते हैं।

गुरुभक्ति के प्रभाव से समापत्ति सिद्ध होती है और समापत्ति के द्वारा (ध्यान की स्पर्शना) तीर्थंकर भगवान के दर्शन प्राप्त होते हैं और उक्त दर्शन से शीघ्र मुक्ति प्राप्त होती है। (अथवा तीर्थंकर-नामकर्म उपार्जित होता है; क्रमानुसार उक्त कर्मोदय से तीर्थंकर बनता है।)

परमात्मा के समक्ष आत्म-समर्पण करना ही समापत्ति है। जब चित्त विशुद्ध (निर्मल) स्थिर और तन्मय होता है तब ही समापत्ति अथवा आत्मार्पण हो सकता है। अहिंसा आदि समस्त धर्म अनुष्ठानों की विधिपूर्वक आराधना करने से क्रमशः "समापत्ति" सिद्ध होती है।

समापत्ति के साधन—

अहिंसा, संयम एवं तप रूप धर्म से समापत्ति—धर्म ही उत्कृष्ट मंगल है अर्थात् ऐसा धर्म ही समस्त जीवों का परम कल्याण करने में समर्थ है। ऐसे धर्म का पूर्णतः पालक साधक भी समस्त जीवों का परम कल्याण करने के लिये समर्थ होता है, जिससे वह स्व-आत्मा का सम्पूर्ण शुद्ध स्वरूप प्रकट करता है और तब परमात्मा के साथ भेद सम्बन्ध मिट जाता है तथा सदा शाश्वत् काल का समागम प्राप्त होता है।

अहिंसा—समस्त जीवों को किसी भी प्रकार की पीड़ा-व्यथा नहीं देनी ही वास्तविक अहिंसा है, दया है। हिंसा से हृदय में कठोरता आती है और अहिंसा से कोमलता-मृदुता आती है, हृदय सुकोमल बनता है। परस्पर उपकार करना जीव का स्वभाव है। सम्पूर्ण अहिंसा के पालन से समस्त जीव राशि को अभय करने से उनके साथ तात्त्विक सम्बन्ध स्थापित होता है, समस्त जीवों के साथ औचित्य का पालन होता है।

संयम—आत्म-स्वभाव को पूर्णतः प्रकट करना ही आत्मा का परम लक्ष्य है, मुख्य साध्य है।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

असंयम (इन्द्रिय, कषाय, अव्रत एवं अशुभयोग) की निवृत्ति से संयम का पालन होता है। ज्यों,ज्यों संयम विशुद्ध बनता है, त्यों-त्यों आत्म-स्वभाव विशुद्ध होता जाता है। सम्पूर्ण शुद्ध संयम के पालन से सम्पूर्ण (आत्म) विशुद्धि होती है। इस प्रकार संयम पालन करके स्व आत्मा के साथ एकता (तात्विक सम्बन्ध) स्थापित होती है।

तप– बाह्य एवं आभ्यन्तर तप—यह आत्मा एवं परमात्मा के मध्य का भेदभाव दूर करके अभेद सम्बन्ध स्थापित करता है। दोनों के मध्य भेद कर्म का है, और ज्यों-ज्यों तप के द्वारा कर्मों का क्षय होता है त्यों-त्यों आत्मा विशुद्ध बनती है, और कर्म से जितना भेद टूटता है, उतना परमात्मा के साथ अभेद सिद्ध होता है।

अनशन आदि बाह्य तप के द्वारा प्रायश्चित्त, विनय, वैयावच्च एवं शास्त्र के पठन-पाठन में वृत्तियें एकाग्र हो जाती हैं, जिससे क्रमशः ध्यान एवं कायोत्सर्ग में भी अपूर्व स्थिरता आती है।

ध्यान एवं कायोत्सर्ग के द्वारा परमात्म-स्वरूप में लीन बनी आत्मा क्रमशः चार घाती कर्मों का क्षय करके केवलज्ञान प्राप्त करती है, और अन्त में जब शैलेशीकरण के द्वारा चार अघाती कर्मों का भी क्षय करके सिद्धिपद प्राप्त करती है, तब आत्मा समस्त भेदों का भ्रमजाल तोड़कर स्वयं परमात्मा बनती है, तब उसका शाश्वत समागम प्राप्त करती है।

इस प्रकार अहिंसा पुण्यानुबन्धी पुण्य की पुष्टि करती है। "संयम" नवीन कर्मों को रोककर क्रमशः पूर्ण संवर भाव उत्पन्न करता है और तप "निर्जरा" तत्त्व स्वरूप है; अंश-अंश करके कर्मों का क्षय करके क्रमशः सम्पूर्ण कर्म-क्षय-स्वरूप "मोक्ष" प्राप्त कराता है, आत्मा के पूर्ण शुद्ध स्वरूप को प्रकट करता है।

इस प्रकार अहिंसा, संयम और तप स्वरूप धर्म ही परम मंगल है। जिस व्यक्ति के हृदय में यह धर्म निवास करता है उसे देव, दानव, इन्द्र और चक्रवर्ती भी नतमस्तक होकर नमस्कार करते हैं।

अहिंसा से निर्मलता, संयम से स्थिरता एवं तप से तन्मयता आने पर परमात्म समापत्ति सिद्ध होती है, अर्थात् आत्मा में परमात्मा का निर्मल प्रतिबिम्ब पड़ता है।

हिंसा का परित्याग किये बिना चित्त निर्मल नहीं बनता और संयम (इन्द्रियदमन-कषाय त्याग) के बिना स्थिरता नहीं आती तथा तप के बिना

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

(स्वाध्याय, ध्यान, कायोत्सर्ग के बिना) तन्मयता नहीं आती और तन्मयता के बिना "समापत्ति" नहीं हो सकती। कहा है कि—

योगस्य हेतुर्मनसः समाधिः, परं निदानं तपसश्च योगः।
तपश्च मूलं शिवशर्मवल्लया, मनः समाधिं भज तत् कथंचित्॥

(अध्यात्म कल्पद्रुम)

मन की समाधि (निर्मलता) संयम (योग) का हेतु है और संयम (योग) तप का हेतु है, और तप मोक्ष का हेतु है।

दुष्कृतगर्हा आदि के द्वारा समापत्ति—

(१) दुष्कृतगर्हा—हिंसा आदि पापों की गर्हा-निन्दा बहिरात्म-भाव को दूर करके चित्त को निर्मल करती है।

(२) सुकृत-अनुमोदना—सुकृत की अनुमोदना अन्तरात्म-स्वरूप स्थिरता लाती है।

(३) चतुःशरणगमन—अरिहन्तादि चारों की शरण ग्रहण करने से परमात्मा के साथ तन्मयता होने पर "समापत्ति" सिद्ध होती है।

तीन प्रकार की भक्ति के द्वारा समापत्ति—

(१) स्वामी-सेवक-भाव से परमात्मा की भक्ति करने से बहिरात्म-भाव नष्ट होता है और चित्त निर्मल बनता है।

(२) अंश-आंशिक भाव के द्वारा (मेरे सम्यग्दर्शन आदि गुण प्रभु की पूर्ण प्रभुता का एक अंश ही है) परमात्म-भक्ति से अन्तरात्मस्वरूप में स्थिरता आती है।

(३) पराभक्ति—स्वआत्मा को परमात्मा तुल्य मानकर उस रूप में ध्यान करने से परमात्मा के साथ तन्मयता (एकता) होती है, उसे आत्मार्पण अथा समापत्ति कहा जाता है।

"बहिरातम तजी अन्तर आतमा,
रूप थई थिर भाव सुज्ञानी।
परमातम नुं आतम भाववुं,
आतम अरपण दाव सुज्ञानी।
आतम अरपण वस्तु विचारता,
भ्रम टले मति दोष सुज्ञानी।
परम पदारथ सम्पद संपजे,
आनन्दघन रस पोष सुज्ञानी।

(सुमतिजिन स्तवन)

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

बहिरात्म-भाव को त्यागकर अन्तरात्मस्वरूप में स्थिर होकर आत्मा को परमात्म-स्वरूप में भजना अर्थात् परमात्मा-भावना से आत्मा को वासित करना, जिससे आत्मा का परमात्मा में समर्पण होता है, और आत्मार्पण का स्वरूप निश्चय से सोचने पर परमात्मा के साथ भेद-सम्बन्ध का भ्रम मिट जाता है और आनन्दघन रस से परिपुष्ट परम आत्म-सम्पत्ति की सम्प्राप्ति होती है।

उपशम, विवेक एवं संवर के द्वारा समापत्ति—

(१) उपशम--कषायों का शमन करना, शान्त करना।

(२) विवेक—भेदज्ञान—आत्मा और कर्म की भिन्नता का विचार।

(३) संवर—कर्मों को रोकने का उपाय।

"उपशम" सम्यग्-दर्शन स्वरूप है, उससे चित्त निर्मल होता है।

"विवेक" सम्यग्ज्ञान स्वरूप है, सम्यग्ज्ञान से चित्त में स्थिरता आती है।

"संवर" सम्यग्चारित्र स्वरूप है, चारित्र आत्म-स्वभाव की रमणता स्वरूप है, जिससे चित्त में तन्मयता आती है, अर्थात् आत्मा तथा परमात्मा का भेदभाव मिटकर एकता का अनुभव होता है; यही "समापत्ति" है।

तीन प्रकार की पूजाओं से भी समापत्ति—

(१) द्रव्य पूजा—अष्ट प्रकार की पूजा से चित्त निर्मल बनता है और प्रसन्नता होती है।

(२) प्रशस्तभाव पूजा - चैत्यवन्दन, स्तुति, स्तवना, प्रार्थना, गुण-गान आदि करने से चित्त में स्थिरता आती है।

(३) शुद्ध भाव पूजा—परमात्मा के गुणों का स्थिरतापूर्वक चिन्तन (ध्यान) करने से क्रमशः जब तन्मयता आती है तब "समापत्ति" सिद्ध होती है।

(१) पिण्डस्थ – छद्मस्थ अवस्था—प्रभु की बाल्यावस्था (जन्मोत्सव, स्नात्र आदि) राज्यावस्था और मुनि अवस्था का चिन्तन करने से चित्त निर्मल होता है।

(२) पदस्थ—केवली अवस्था—प्रभु की केवलज्ञान अवस्था का विचार करने से चित्त स्थिर होता है।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

(३) रूपातीत अवस्था—प्रभु की सिद्ध अवस्था का ध्यान करने से जब उसमें तन्मयता आती है तब "समापत्ति" सिद्ध होती है।

श्रुतज्ञान, चिन्ताज्ञान और भावनाज्ञान के द्वारा समापत्ति—

(१) श्रुतज्ञान से चित्त की निर्मलता प्रकट होती है।

(२) चिन्ताज्ञान से चित्त की स्थिरता प्रकट होती है।

(३) भावनाज्ञान से चित्त की तन्मयता प्रकट होती है।

(१) श्रुतज्ञान—वाक्यार्थ मात्र के विषय युक्त, वितर्क आदि से रहित एवं स्वच्छ पानी के तुल्य होता है।

(२) चिन्ताज्ञान—महा वाक्यार्थ, सर्व नयप्रमाणगामी, वितर्क आदि से युक्त दूध के स्वाद तुल्य होता है।

(३) भावनाज्ञान—तात्पर्यार्थ के विषय वाला, आत्महित कारक अमृत-रस के स्वाद तुल्य होता है।

अध्यात्म आदि पाँच प्रकार के योगों के द्वारा समापत्ति—

(१) अध्यात्म एवं भावना योग के सतत अभ्यास से चित्त निर्मल बनता है।

(२) ध्यानयोग के सतत अभ्यास से चित स्थिर बनता है।

(३) समतायोग के अभ्यास से परमात्मा में लीनता होने पर "समापत्ति" होती है और क्रमशः वृत्तिसंक्षय योग के द्वारा समस्त वृत्तियों का निरोध होने पर मोक्ष-सुख प्राप्त होता है।

चार अनुष्ठानों से समापत्ति—

(१) इच्छायोग चित्त को निर्मल करता है।

(२) शास्त्रयोग चित्त को स्थिर करता है।

(३) सामर्थ्ययोग से चित्त तन्मय होता है, उसे "समापत्ति" कहते हैं।

धारणा आदि से समापत्ति—

(१) धारणा के द्वारा चित्त की निर्मलता प्रकट होती है।

(२) ध्यान के द्वारा चित्त स्थिर होता है।

(३) समाधि के द्वारा चित्त तन्मय होने पर "समापत्ति" होती है अथवा समाधि "समापत्ति" स्वरूप है।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

इच्छा, प्रवृत्ति आदि योग के द्वारा समापत्ति—

(१) इच्छा और प्रवृत्ति योग के द्वारा चित्त निर्मल होता है।

(२) स्थैर्य योग चित्त को स्थिर करता है।

(३) सिद्धियोग से चित्त में तन्मयता आती है, जिससे "समापत्ति" प्रकट होती है।

पाँच प्रकार के आशय से समापत्ति—

(१) प्रणिधि एवं प्रवृत्ति के द्वारा चित्त निर्मल होता है।

(२) विघ्नजय के द्वारा चित्त स्थिर होता है।

(३) सिद्धि और विनियोग के द्वारा चित्त तन्मय होने पर "समापत्ति" सिद्ध होती है।

स्थान आदि योगों के द्वारा समापत्ति—

(१) स्थान एवं वर्णयोग के द्वारा मन निर्मल होता है।

(२) अर्थ और आलम्बन योग से मन स्थिर होता है।

(३) अनालम्बन योग में तन्मयता होने पर "समापत्ति" सिद्ध होती है।

दान आदि से समापत्ति—

(१) दान देने से चित्त निर्मल होता है।

(२) शील का पालन करने से चित्त स्थिर होता है।

(३) तप के द्वारा तन्मयता आने पर "समरसभाव" प्रकट होता है, वही "समापत्ति" कहलाता है।

मैत्री आदि चार भावनाओं से समापत्ति—

(१) मैत्री एवं करुणा-भावना चित्त को निर्मल करती हैं।

(२) प्रमोद भावना चित्त को स्थिर करती हैं।

(३) मध्यस्थ भावना (समता) चित्त को तन्मय बनाती है। और चित्त तन्मय होने पर "समापत्ति" होती है।

पिण्डस्थ आदि ध्यान से समापत्ति—

(१) पिण्डस्थ ध्यान से चित्त निर्मल होता है।

(२) पदस्थ एवं रूपस्थ ध्यान से चित्त स्थिर होता है।

(३) रूपातीत ध्यान में चित्त तन्मय होता है, वही "समापत्ति" है।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

अमृत अनुष्ठान के द्वारा समापत्ति—

भव का भय, विस्मय, पुलक, प्रमोद, समय-विधान, भाव-वृद्धि और तद्गतचित्त अमृत अनुष्ठान के लक्षण हैं।

(१) भव का भय—भव के भय अर्थात् विषय-कषाय के भय से तथा विस्मय, पुलक एवं प्रमोद के द्वारा चित्त निर्मल होता है।

(२) समय-विधान—शास्त्रोक्त समय के अनुसार क्रिया करने से तथा शुभ भाव की वृद्धि होने से चित्त स्थिर होता है।

(३) तद्गतचित्त—ध्येयाकार से चित्त की परिणमता से तन्मयता आती है। वही "समापत्ति" कहलाती है।

अष्ट प्रवचन माता के पालन से समापत्ति—

(१) पाँच समितियों से चित्त निर्मल होता है।

(२) वचनगुप्ति एवं कायगुप्ति के द्वारा चित स्थिर होता है।

(३) मनोगुप्ति के द्वारा चित्त तन्मय होने पर "समापत्ति" सिद्ध होती है।

दस यतिधर्म के पालन से समापत्ति—

(१) क्षमा, मार्दव (मृदुता), आर्जव (सरलता), निर्लोभता, सत्य, शौच, अकिंचनत्व (निर्ममत्व) के द्वारा मन निर्मल होता है।

(२) संयम एवं ब्रह्मचर्य के द्वारा मन स्थिर होता है।

(३) तप—बाह्य-आभ्यन्तर तप के द्वारा क्रमशः तन्मयता होती है तब समापत्ति सिद्ध होती है।

पंचाचार का पालन करने से समापत्ति—

(१) दर्शनाचार के पालन से चित्त निर्मल होता है—प्रसन्न होता है।

(२) ज्ञानाचार के पालन से चित्त स्थिर होता है।

(३) चारित्राचार, तपाचार एवं वीर्याचार के पालन से चित्त तन्मय होने पर "समापत्ति" सिद्ध होती है।

पंचपरमेष्ठियों की भक्ति से समापत्ति—

(१) मुनिराज की सेवा-भक्ति से चित्त निर्मल होता है।

(२) उपाध्याय एवं आचार्य देव की सेवा-भक्ति से चित्त स्थिर होता है।

(३) अरिहन्त और सिद्ध भगवानों की भक्ति से चित्त तन्मय होता है, तब "समापत्ति" सिद्ध होती है।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

देव, गुरु और धर्म से समापत्ति—

(१) अहिंसा आदि धर्म का पालन करने से चित्त निर्मल होता है।

(२) सद्गुरु की सेवा, भक्ति, आज्ञा-पालन से चित्त स्थिर होता है।

(३) अरिहन्त परमात्मा के ध्यान से उनमें चित्त तन्मय होने पर "समापत्ति" सिद्ध होती है।

अन्य प्रकार से—

(१) देव तत्त्व की भक्ति से चित्त निर्मल होता है।

(२) गुरु तत्त्व की भक्ति से चित्त स्थिर होता है।

(३) चारित्रधर्म की साधना से तन्मय होने पर "समापत्ति" होती है।

तीन अवंचक एवं समापत्ति—

(१) योगावंचक – सद्गुरु के दर्शन एवं समागम से चित्त निर्मल होता है।

(२) क्रियावंचक—उनके उपदेशानुसार वन्दन आदि अनुष्ठान के आचरण से चित्त स्थिर होता है।

(३) फलावंचक—अवंचक फल-अचूक-सानुबन्ध फल की प्राप्ति से क्रमशः आत्मस्वरूप के लक्ष्यवेध की शक्ति प्रकट होने पर परमात्म-स्वरूप में तन्मय होने पर "समापत्ति" सिद्ध होती है, अर्थात् आत्मस्वरूप का लक्ष्य-वेध होता है।

तीन करणों से सम्यग् दर्शन रूप समापत्ति—

(१) चरमयथाप्रवृत्तिकरण—(वैराग्य परिणाम) मे चित्त निर्मल होता है।

(२) अपूर्वकरण (अपूर्वभाव अथवा वीर्योल्लास) से चित्त स्थिर होता है।

(३) अनिवृत्तिकरण—परमात्मस्वरूप में तन्मयता रूपो सम्यग्दर्शन प्राप्त किये बिना नहीं रहूंगा, ऐसे निश्चल परिणाम से "समापत्ति" (सम्यग् दर्शन रूप) सिद्ध होती है।

छः आवश्यकों से समापत्ति –

(१) सामायिक एवं प्रतिक्रमण—समस्त सावद्य योगों के परिहार से किये गये पापों के पश्चाताप से चित्त निर्मल होता है।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

(२) चौविसत्थो एवं वन्दन के द्वारा (अर्थात् देव वन्दन एवं गुरु वन्दन के द्वारा) चित्त स्थिर होता है।

(३) कायोत्सर्ग एवं प्रत्याख्यान के द्वारा चित्त तन्मय होने पर "समापत्ति" प्रकट होती है।

तीन प्रकार के जाप से समापत्ति—

(१) "नमो अथवा अर्हं" आदि पद के भाष्य जाप से चित्त निर्मल होता है।

(२) "नमो अथवा अर्हं" आदि पद के उपांशु जाप से चित्त स्थिर होता है।

(३) "नमो अथवा अर्हं" आदि पद के मानसिक जाप से चित्त तन्मय होने पर "समापत्ति" सिद्ध होती है।

नमस्कार महामन्त्र के द्वारा समापत्ति—

भयस्थान में रहा हुआ मानव भय-मुक्त होने के लिये भयहीन स्थान का आश्रय लेता है। रोगग्रस्त व्यक्ति रोग-मुक्त होने योग्य चिकित्सा कराता है और विष से मूर्च्छित बना मनुष्य विषहरमन्त्र का प्रयोग करता है।

संसारी व्यक्ति को भी भव (कर्म) का भय सताता है, कर्म की व्याधि उसे पीड़ित करती है और मोह (राग-द्वेष, विषय, कषाय) रूपी विष ने उसे मूर्च्छित कर दिया है। भव के भय से मुक्त होने के लिये निर्भय अरिहन्त आदि का शरण ग्रहण करना चाहिये। कर्मरोग को नष्ट करने के लिए "तप" रूपी चिकित्सा करनी चाहिए और मोह-विष को उतारने के लिये स्वाध्याय (शास्त्राध्ययन) करना चाहिये।

नवकार महामन्त्र के जाप से भय, रोग और विष तीनों का प्रतिकार होता है क्योंकि—

(१) नमस्कार महामन्त्र के पाँचों परमेष्ठी स्वयं निर्भीक हैं और अन्य को निर्भय करने वाले हैं; अतः उनकी शरण स्वीकार करने से निर्भयता आती है, भय का भाव दूर होने पर चित्त निर्मल होता है।

(२) परमेष्ठि-नमस्कार विनय-वैयावच्च स्वरूप अभ्यन्तर तप है। उसके निरन्तर स्मरण से कर्मरोग का निवारण होता है। कर्मरोग क्षीण-प्राय होने से चित्त स्थिर होता है।

(३) नमस्कार महामन्त्र स्मरण, चिन्तन, मनन, निदिध्यासन

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

स्वाध्याय है। इनके द्वारा मोह-राग-द्वेष रूपी विष का वेग शान्त होने पर तन्मयता आती है।

इस प्रकार अरिहन्त आदि के ध्यान में तन्मय होने से "समापत्ति" सिद्ध होती है।

"नमो अरिहन्ताणं" पद के द्वारा समापत्ति की सिद्धि—

"नमो" पद के स्मरण से चित्त निर्मल होता है।

"अरिहं" पद के स्मरण से चित्त स्थिर होता है।

"ताणं" पद के स्मरण से चित्त तन्मय होने से "समापत्ति" होती है।

"नमो" पद के स्मरण से समापत्ति—

(१) "नमो" पद का उच्चारण वैखरी वाणी रूप होने से क्रिया-योग है और इससे चित्त निर्मल होता है।

(२) "नमो" पद के अर्थ का चिन्तन मध्यमा वाणी रूप होने से भक्तियोग है और इससे चित्त स्थिर होता है।

(३) "नमो" पद का ध्यान (एकाग्र संवित्ति) पश्यन्ती वाणी रूप होने से ज्ञानयोग है। इससे चित्त की तन्मयता होने पर "समापत्ति" सिद्ध होती है। इसे "परावाणी" कहते हैं।

इस प्रकार बीस स्थानक तथा नौ पदों की भक्ति से अथवा अरिहन्त आदि किसी एक भी पद की भावपूर्वक भक्ति से चित्त निर्मल, स्थिर और तन्मय होने पर "समापत्ति" सिद्ध हो सकती है; तथा अहिंसा, संयम, क्षमा, तप आदि किसी भी एक-एक अनुष्ठान की आराधना से भी क्रमशः समापत्ति सिद्ध होती है। यहाँ तो सापेक्षता से मुख्य एवं गौण भाव को लेकर मुख्य-मुख्य अनुष्ठानों के द्वारा उसकी सिद्धि की गई है। विशेष रहस्य तो गीतार्थ महापुरुषों से समझ लें।

"समापत्ति" ध्यान का प्रधान फल है। जब एकत्व ध्यान की स्पर्शना से ध्येय परमात्मा के शुद्ध स्वरूप का वास्तविक ध्यान आता है तब ध्याता अपनी आत्मा के शुद्ध स्वरूप से परिचित होता है, आत्मा के आनन्द और सुख का अनुभव होता है। अतः सुज्ञ साधक को बार-बार परमात्मा के ध्यान में लीन होकर उक्त आनन्द एवं सुख की अनुभूति करने के लिए नित्य प्रयत्नशील होना चाहिये।

समस्त योग एवं धर्म-अनुष्ठानों का लक्ष्य आत्मा को परमात्मा

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

बनाने का ही है और वह लक्ष्य परमात्म-स्वरूप में तन्मय होने से ही सिद्ध होता है।

इसके लिये "उपमिति भवप्रपंच" में कहा है कि—

मूलोत्तरगुणाः सर्वे, सर्वा चेयं बहिष्क्रिया।
मुनीनां श्रावकाणां च, ध्यानयोगार्थमीरिताः॥

साधुओं तथा श्रावकों के पालन करने योग्य समस्त प्रकार के मूल व्रत एवं नियम तथा समस्त प्रकार की बाह्य क्रियाएँ ध्यान योग को सिद्ध करने के लिये बताई गई हैं।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

३. समापत्ति एवं गुणश्रेणी

गुणश्रेणी का अद्भुत स्वरूप समझने से "समापत्ति" का रहस्य विशेषतया स्पष्ट होता है।

गुणश्रेणी—अर्थात् उदय समय से लेकर प्रत्येक समय पर असंख्य गुण-वृद्धि से कर्मदलिक की रचना करना, अर्थात् कर्म-क्षय करने के लिये उन कर्मदलिकों को उचित रूप से जमाना। इस प्रकार की मुख्यतः ग्यारह गुण-श्रेणियाँ होती हैं, जो निम्नलिखित हैं—

(१) **प्रथम गुणश्रेणी**—सम्यग्दर्शन प्राप्त करने के समय होती है। उसका काल अन्तर्मुहूर्त का है। उसके प्रारम्भ होने के समय जीव सबसे कम कर्म-पुद्गलों की रचना करता है; अर्थात् विपुल कर्म-राशि में से उदयावलिका में लाकर क्षय करने योग्य कर्म-स्कन्धों को उदय क्षण से लेकर असंख्य गुने अधिक-अधिक जमाता है, उनमें प्रथम समय सबसे कम, दूसरे समय उससे असंख्य गुने, उससे असंख्य गुने तीसरे समय इस प्रकार अन्तर्मुहूर्त के असंख्य समय तक असंख्य गुने अधिक-अधिक कर्म-पुद्गल यावत् श्रेणी के अन्तिम समय तक रचता है।

(२) देशविरति प्राप्त करने के समय जीव दूसरी गुणश्रेणी की रचना करता है, जिसका काल भी अन्तर्मुहूर्त होते हुए भी प्रथम की अपेक्षा छोटा अन्तर्मुहूर्त होता है, प्रथम की अपेक्षा कर्म दलिक असंख्य गुने अधिक होते हैं। इस प्रकार ही आगे सर्वविरति आदि समस्त गुणश्रेणियों में समझना चाहिये—अर्थात् अन्तर्मुहूर्त का काल अल्प और कर्म दलिकों की संख्या अधिक होती है; अर्थात् आगे-आगे की भूमिकाओं में अध्यात्म-परिणाम की विशुद्धि अधिकाधिक होती है; जिससे अल्पकाल में भी पर्याप्त कर्म-पुंजों का क्षय होता है।

उत्तरोत्तर अध्यवसाय की विशुद्धि बताने के लिये ही कहा है कि "यह सम्यग्दर्शन, देशविरति, सर्वविरति गुणधारक भी क्रमशः असंख्य गुने कर्म-निर्जरा करने वाले होते हैं।"

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

ज्यों-ज्यों कर्म निर्जरा अधिक होती है, त्यों-त्यों आत्मा की शुद्धता में वृद्धि होती है और उक्तवर्धित आत्म-शुद्धता उत्तर अवस्था में प्राप्त होने वाली आत्म शुद्धता का कारण बनती है। इस प्रकार प्रत्येक गुणश्रेणी में अपूर्व आत्म-सामर्थ्य और अध्यवसाय की शुद्धि अधिकाधिक होती है, उसमें से प्रथम गुणश्रेणी करने के समय जो आत्म-सामर्थ्य प्रकट होता है, उसके मूल कारण का विचार करने पर समापत्ति का रहस्य विशेष स्पष्ट ज्ञात होता है।

आगमों एवं कर्म ग्रन्थों में सम्यक्त्व प्राप्त होने से पूर्व तीन करणों का रहस्यमय वर्णन आता है। उक्त करण अर्थात् "आत्मा के निर्मल, स्थिर परिणाम" जिनके द्वारा पर्याप्त कर्म स्थिति का नाश होता है।

(१) यथाप्रवृत्तिकरण, (२) अपूर्वकरण और (३) अनिवृत्तिकरण। प्रथम यथाप्रवृत्तिकरण तो अनेक बार होता है। जब होता है तब वैराग्य के भाव अवश्य होते हैं। उसके द्वारा आयु के अतिरिक्त सात कर्मों की स्थिति अन्तर्कोटाकोटि सागरोपम से भी तनिक न्यून हो जाती है। भव्य एवं अभव्य जीव भी ऐसी भूमिका में अनेक बार आकर पुनः नीचे गिर जाते हैं; परन्तु चरमपुद्गल परावर्त में आने पर कोई भव्य जीव चरम यथाप्रवृत्तिकरण की भूमिका में स्थिर होकर अपूर्वकरण का सामर्थ्य प्राप्त करने के लिए प्रबल पुरुषार्थ करता है, जिसका विस्तृत वर्णन योग की चार (मित्रा, तारा, बला, दीप्रा) दृष्टियों के द्वारा "योगदृष्टि समुच्चय" ग्रन्थ में हो चुका है। उक्त ग्रन्थ के अवगाहन से चरम यथाप्रवृत्तिकरण में होने वाली विशिष्ट साधनाओं का तनिक ध्यान आयेगा।

अपूर्व जिनभक्ति, गुरुसेवा, श्रुतभक्ति, भववैराग्य, तत्वजिज्ञासा, तत्वश्रवण आदि योग के बीजों तथा यम, नियम, आसन और भाव-प्राणायाम आदि योग के अंगों का क्रमशः विकास होने पर चौथी दीप्रा दृष्टि में गुरु-भक्ति के प्रभाव से परमात्म समापत्ति सिद्ध होती है।

चित्त की निर्मलता, स्थिरता और तन्मयता होने से ही यह समापत्ति हो सकती है। ध्याता, ध्येय और ध्यान की एकता ही समापत्ति है। परमात्मा के ध्यान में तन्मय बनी आत्मा जब स्वयं को भी परमात्म-स्वरूप में मानकर ध्यान करती है, अर्थात् संग्रहनय की दृष्टि से समस्त सत्ता से सिद्ध के समान होने से ऐसी सिद्धता मुझमें भी है यह जानकर आत्मस्वरूप में एकाकार हो जाती है। इस प्रकार बार-बार के सतत अभ्यास से उसमें अपूर्व आत्म-सामर्थ्य प्रकट होता है।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

अध्यवसाय (आत्मपरिणाम) की अपूर्व निर्मलता, स्थिरता होने से आत्मस्वरूप में तन्मय होने पर अपूर्व वीर्योल्लास जागृत होता है, तब "अपूर्वकरण रूप समापत्ति"[1] सिद्ध होती है।

जिस अपूर्वकरण के विशुद्ध परिणाम से राग-द्वेष की निविड़, घन, कर्कश और गुप्त ग्रन्थियों का भी भेदन हो जाता है, वह अपूर्वकरण भी ध्यान विशेष (समापत्ति विशेष) है।

अपूर्वकरण के पश्चात् भी प्रबल ध्यान आदि के कारण पूर्व की अपेक्षा अधिक चित्त निर्मलता, स्थिरता एवं तन्मयता सिद्ध होती है तब "अनिवृत्तिकरण" की शक्ति प्रकट होती है। उक्त अनिवृत्तिकरण (रूप समापत्ति) के द्वारा प्रथम गुणश्रेणी (की रचना) करता है और सम्यग्-दर्शन को प्राप्ति होती है। इस प्रकार उत्तरोत्तर भूमिका-योग्य धर्म अनुष्ठान के निरन्तर सेवन से जब प्रबल ध्यान-शक्ति प्रकट होती है, तब उस प्रकार की समापत्ति-समाधि प्राप्त होती है कि जिससे देशविरति आदि गुणश्रेणी सिद्ध हो सकती है। प्रत्येक गुणश्रेणी का समय अन्तमुर्हूर्त ही है और स्थिर ध्यान का काल भी अन्तर्मुहूर्त मात्र ही है। फिर विषयान्तर का आलम्बन अवश्य लेना पड़ता है, जिससे फलित होता है कि ध्यान की निर्मलता, स्थिरता एवं तन्मयता के द्वारा गुणश्रेणी की रचना होती है। ज्यों-ज्यों चित्त की निर्मलता, स्थिरता और तन्मयता की वृद्धि होती है, त्यों-त्यों वह आत्मा उत्तरोत्तर गुणश्रेणी रचना के द्वारा असंख्यगुण, कर्मनिर्जरा एवं उत्तरोत्तर विशेष विशुद्धि प्रकट करती है।

इस प्रकार ध्यान की निर्मलता, स्थिरता और तन्मयता से समापत्ति (सामायिक अथवा समाधि) सिद्ध होती है और उससे गुणश्रेणी की रचना होती है और उससे क्रमशः असंख्य गुनी कर्म-निर्जरा होने पर असंख्यगुनी आत्म-विशुद्धि प्राप्त होती है और अयोगी अवस्था के अन्त में मुक्ति प्राप्त होती है।

---

१ एतानि श्रद्धादिनि अपूर्वकरण महासमाधि बीजानि।
तत्परिपाकातिशयतस्तत्सिद्धेः ॥
ये श्रद्धा, मेधा, धृति, धारणा एवं अनुप्रेक्षा-अपूर्वकरणरूप महासमाधि के बीज हैं, क्योंकि श्रद्धा आदि की परिपक्वता से ही उसकी सिद्धि होती है।
(ललितविस्तरा चैत्यस्तव)

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

अथवा तो परमात्म-प्रभु का ध्यान हो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र रूप है, अर्थात् ध्यान की निर्मलता रूप सम्यग्दर्शन ध्यान की स्थिरता रूप सम्यग्ज्ञान और तन्मयता रूप चारित्र की ज्यों-ज्यों वृद्धि होती है त्यों-त्यों अधिकाधिक कर्मनिर्जरा होती है।

जब ध्याता पूर्णतः ध्येय रूप में हो जाता है तब समस्त कर्मों का क्षय होने पर मुक्ति प्राप्त होती है।

भावधर्म और समापत्ति—

अनन्त उपकारी श्री तीर्थंकर परमात्मा ने (दान, शील, तप और भाव के भेद से) धर्म के चार भेद बताये हैं। उनमें भाव-धर्म प्रधान है। इसके बिना दान आदि तीन धर्म मोक्ष साधक नहीं बनते।

भाव मन में उत्पन्न होता है और मन अत्यन्त चंचल स्वभावी होने से आलम्बन के बिना स्थिर नहीं रहता। इस कारण ही जिनेश्वर भगवान ने सालम्बन और निरालम्बन रूप ध्यान के दो भेद बताये हैं।

निरालम्बन ध्यान आलम्बन ध्यान के बिना सिद्ध नहीं होता, अतः सालम्बन ध्यान को सिद्ध करने के लिये असंख्य आलम्बन (योग) बताये हैं, जिनमें अरिहन्त आदि नौ पद मुख्य आलम्बन हैं।

अरिहन्त आदि का द्रव्य-गुण-पर्याय के द्वारा ध्यान करने से ध्याता जब अपनी आत्मा को निर्मल कर के क्रमशः अरिहन्त आदि के स्वरूप में स्थिर होकर तन्मय हो जाता है, तब ध्याता, ध्येय और ध्यान का भेद नहीं रहता, परन्तु एक ही ध्येयाकार में तन्मय बनी आत्मा का ही (अनुभव) शुद्ध उपयोग रहता है, तब आत्मा का शुद्ध उपयोग स्वरूप भावधर्म उत्पन्न होता है। निश्चय दृष्टि से वह[1] शुद्ध उपयोग ही भावधर्म है। आगम से भाव निक्षेप भी शुद्ध उपयोग वाले ज्ञाता को[2] भाव-धर्म के रूप में स्वीकार करता है, तथा योगशास्त्र में निर्दिष्ट समापत्ति ध्याता, ध्येय और ध्यान की एकता रूप होने से शुद्ध धर्म को उत्पन्न करती है। अतः (व्यवहार की अपेक्षा से) वह समापत्ति भी भावधर्म है। (यहाँ कारण में कार्य का उपचार हुआ है।)

---

१ वत्थु सहावो धम्मो।

२ शिरोदक समो भाव आत्मन्येन व्यवस्थितः। (योगबिन्दु ३४६)
वृत्तिः-भावः शुद्ध परिणामरूपः आत्मन्येव-जीव एव-सम्यग्दृष्ट्यादौ व्यवस्थितः।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

श्री "सिरिवालकहा" में निश्चयदृष्टि से नौ पदों का विस्तार पूर्वक वर्णन किया गया है। उसके चिन्तन, मनन से "समापत्ति" का स्वरूप स्पष्ट समझा जा सकता है।

एयाराहणमूलं च पाणिणो केवलो सुहो भावो।
सो होइ धुवं जीवाण, निम्मलप्पाण नन्नेसि ।।

इन नौ पदों की आराधना का मूल केवल प्राणियों का शुभ भाव है और उक्त शुभ भाव निर्मल आत्माओं में ही होता है, अन्य जीवों में नहीं हो सकता। जो संकल्प विकल्प रहित निर्मल आत्मा हैं, वे ही नौ पद हैं और नौ पदों में निर्मल आत्मा है।

रूपस्थ, पदस्थ एवं पिण्डस्थ रूप से अरिहन्त का ध्यान करता ध्याता स्वयं को भी प्रत्यक्ष रूप से अरिहन्त के रूप में देखता है। उसी प्रकार से सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु, दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप पद का ध्यान करने वाला ध्याता जब ध्येय स्वरूप में तन्मय हो जाता है तब वह अपनी आत्मा को भी सिद्ध, आचार्य आदि के रूप में ही देखता है।

आगम से भाव निक्षेप उस आत्मा को ही अरिहन्त आदि मय कहते हैं। अतः वह निर्मल आत्मा ही नौ पद मय है और नौ पद भी भाव रूप में निर्मल आत्मा में ही हैं, यह स्पष्ट समझा जा सकता है।

इस प्रकार आत्मा को ही नौ पदमय देखने से उस क्षण में पर्याप्त कर्मों का क्षय हो जाता है, जो करोड़ों जन्मों के तीव्र तप से भी सम्भव नहीं है।

इस प्रकार आत्मा को नौ पदमय जानकर आत्मा में ही सदा लीन (मग्न) होना चाहिये। स्फटिक रत्न तुल्य निर्मल आत्म-स्वभाव ही "भाव-धर्म" है, इस प्रकार श्री जिनेश्वर भगवन्त ने कहा है।

निश्चय से राग-द्वेष रहित शुद्ध आत्म-स्वभाव को ही धर्म कहा जाता है।

जे जे अंशे रे, निरुपाधिकपणुं, ते ते जाणो रे धर्म।
सम्यग्दृष्टि रे गुणठाणाथकी जाव लहे शिव शर्म ।।

निश्चय से जितने अंश में उपाधिरहितता प्रकट हुई हो अर्थात् आत्म-विशुद्धि प्रकट हुई हो उतने अंशों में शुद्ध धर्म प्राप्त हुआ कहा जाता है और वह धर्म सम्यग्दृष्टि (चतुर्थ) गुणस्थानक से लगाकर मोक्ष सुख प्राप्त होने तक उत्तरोत्तर विशुद्ध होता जाता है; अर्थात् मोक्ष में पूर्ण शुद्ध आत्म स्वभाव प्रकट होता है।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

व्यवहार की अपेक्षा से मार्गानुसारी—अपुनर्बन्धक अवस्था में योग-धर्म का बीजरूप उचित (शास्त्रोक्त) अनुष्ठान भी निश्चय धर्म को प्रकट करने वाला होने से व्यवहार से धर्म कहलाता है।

इस प्रकार विशिष्ट ध्यान रूप अथवा ध्यान की फलस्वरूप "समापत्ति" शुद्ध आत्मधर्म का अनन्तर प्रधान कारण होने से "भावधर्म" ही है और वह भाव ही समस्त अनुष्ठानों का ध्येय है, फल है।

भावसेवा और समापत्ति—

परमात्म समापत्ति अरिहन्त परमात्मा की "भावसेवा" है; पराभक्ति (परम उत्कृष्ट भक्ति) है और शुद्ध भावपूजा[1] है; क्योंकि इन तीनों के लक्षण समापत्ति में घटित होते हैं। परमात्मा की निर्मल, स्थिर चित्त से सेवा, भक्ति अथवा पूजा करके उनके स्वरूप में तन्मय हो जाना ही "भाव-सेवा" है; पराभक्ति अथवा शुद्ध भाव-पूजा का लक्षण है और ध्याता, ध्यान और ध्येय की एकतारूप परमात्म समापत्ति भी चित्त की निर्मलता, स्थिरता एवं तन्मयता के द्वारा सिद्ध होती होने से परमात्मा की भावसेवा, पराभक्ति अथवा शुद्ध भाव पूजा ही है, यह जानकर परमात्मा की भाव-पूजा में—भक्तिसेवा में तत्पर होकर आत्मस्वरूप का अनुभव करना चाहिये।

(भावसेवा दो प्रकार की है—(१) अपवाद भावसेवा और (२) उत्सर्ग भावसेवा। उसका और शुद्ध भावपूजा का विस्तृत स्वरूप देवचन्द्र जी कृत आठवें और बारहवें प्रभु के स्तवन के विवेचन से ज्ञात कर लें।)

सात नयों से समापत्ति अथवा भावसेवा का चिन्तन—

परमात्मा की भावसेवा के दो भेद हैं—

(१) अपवाद भावसेवा (निमित्तरूप भाव सेवा) और

(२) उत्सर्ग भावसेवा (कार्य-उपादान रूप भाव सेवा।

---

१ सा (भक्ति) त्वस्मिन् (परमात्मनि) परमप्रेमरूपा। अमृतस्वरूपा च यल्लब्ध्वा पुमान्-सिद्धो भवति; अमृतो भवति, तृप्तो भवति।

वह भक्ति-परमात्मा में परम प्रेम-प्रीति स्वरूप है, अमृत-मोक्षस्वरूप है, क्योंकि जिस भक्ति को पाकर भक्त सिद्ध बनता है, अमृतमय अथवा अमृत बनता है, परम तृप्त होता है। (नारद—भक्तिसूत्र)

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

परमात्म समापत्ति निमित्त स्वरूप होने से अपवाद भाव सेवा रूप है। उसके योग से आत्मा की उपादान शक्ति—सम्यग् दर्शन आदि प्रकट होती है। वह उत्सर्ग भाव सेवा है।

सात नयों की अपेक्षा से बृहत्कल्पभाष्य के आधार से श्रीमद् देवचन्द्र जी कृत श्री चन्द्रप्रभ जिन स्तवन में भाव सेवा के स्वरूप निम्न प्रकार से हैं—

(१) नैगमनय से—अपवाद भावसेवा अथवा समापत्ति—जिनगुण का संकल्प-चिन्तन।

(२) संग्रहनय से—अपवाद भावसेवा अथवा समापत्ति-भेद-अभेद के विकल्प से परमात्मा के साथ आत्मसत्ता की तुल्यता का विचार।

(३) व्यवहारनय से—अपवाद भावसेवा अथवा समापत्ति—सम्मान पूर्वक-सम्यग्ज्ञानयुक्त च चारित्र के द्वारा जिनगुणों में रमणता।

(४) ऋजुसूत्रनय से—अपवाद भावसेवा अथवा समापत्ति—प्रभुगुण के आलम्बन से पदस्थ आदि धर्मध्यान।

(५) शब्दनय से—अपवाद भावसेवा अथवा समापत्ति—शुक्लध्यान में चढ़ना, (प्रथम नींव) और आत्मस्वरूप में तन्मय होकर परमात्म-चिन्तन।

(६) समभिरूढ़नय से—अपवाद भावसेवा अथवा समापत्ति—दसवें सूक्ष्मसम्पराय गुणस्थानक से होता शुद्ध ध्यान।

(७) एवंभूतनय से—अपवाद भावसेवा अथवा समापत्ति—बारहवें क्षीणमोह गुणस्थानक से प्रकट होते शुक्लध्यान का द्वितीय भेद।

इस प्रकार नयभेद से—भावसेवा के स्वरूप का विचार करने पर समापत्ति का स्वरूप भी सात नयों के विभाग से स्पष्ट समझा जा सकता है। उससे प्रकट होती आत्म-शुद्धता का तारतम्य उत्सर्ग भाव सेवा के स्वरूप से ज्ञात हो सकेगा।

सामान्य से दीप्रादृष्टियुक्त अपुनर्बन्धक, सम्यग्दृष्टि, देशविरति, प्रमत्तयति और अप्रमत्तयति को क्रमशः नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र नय की समापत्ति (धर्मध्यानस्वरूप) सम्भव हो सकती है। शेष समापत्ति शुक्ल ध्यान में ही होती है।

□□

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

४. समापत्ति और कायोत्सर्ग

जैनदर्शन में "कायोत्सर्ग" को आवश्यक नित्य कर्तव्य के रूप में विशेष महत्व दिया गया है। इसका कारण क्या होगा ? यदि इस पर शास्त्र-सापेक्ष चिन्तन अनुभवपूर्वक किया जाये तो उसका गम्भीर रहस्य अवश्य समझने को मिलेगा। यद्यपि इसका सम्पूर्ण रहस्य तो दिव्य, ज्ञानी पुरुष ही जान सकते हैं और अनुभव कर सकते हैं।

"षड् आवश्यक" में कायोत्सर्ग पाँचवाँ आवश्यक है।

साधु, साध्वी, श्रावक एवं श्राविका रूप चतुर्विध संघ समस्त को नित्य, नियमित अवश्य करने योग्य होने से इन्हें "आवश्यक" कहा जाता है।

चतुर्विध संघ के संस्थापक समस्त तीर्थंकर भगवान भी दीक्षा ग्रहण करने के पश्चात् जब तक केवलज्ञान नहीं होता, तब तक प्रायः कायोत्सर्ग अवस्था में रहकर निरन्तर ध्यान करते है और मुक्ति भी प्रायः कायोत्सर्ग अवस्था में ही प्राप्त करते हैं। इसी प्रकार से उनके शिष्य—गणधर भगवान, पूर्वधर एवं अन्य लब्धिधारी मुनि भी कठिन कर्म-काष्ठ को भस्म करने के लिये सदा "कायोत्सर्ग" का आलम्बन ही लेते हैं। इससे भी समझा जा सकता है कि जैनदर्शन में "कायोत्सर्ग" का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

"कायोत्सर्ग" अभ्यन्तर (आन्तरिक) तप है। इसमें भी इसका स्थान ध्यान के पश्चात अन्तिम है। अतः प्रायश्चित्त, विनय, वैयावच्च, स्वाध्याय एवं ध्यान की अपेक्षा भी "कायोत्सर्ग" का सामर्थ्य विशेष है। कायोत्सर्ग में प्रायश्चित्त आदि पाँचों की सम्मिलित शक्ति का संचय है। इस कारण कायोत्सर्ग के द्वारा सर्वाधिक कर्मों की निर्जरा होती है और अत्यन्त आत्म-विशुद्धि प्रकट होती है।

कायोत्सर्ग आत्मा और परमात्मा के मध्य का अन्तर मिटाकर परमात्मा के साथ तन्मय करता है, अतः वह समापत्ति स्वरूप है।

ध्यान का फल समाधि है। कायोत्सर्ग भी ध्यान फल होने से

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

समाधि स्वरूप है। समापत्ति और समाधि परस्पर कार्य-कारण-भाव-स्वरूप होने से दोनों की क्वचित् एकता प्रसिद्ध हैं।

"कायोत्सर्ग" समाधि (समापत्ति) स्वरूप है। इसका रहस्य समझने के लिये निम्नलिखित शास्त्रीय पाठ अत्यन्त उपयोगी होंगे—

चैत्यवन्दन सूत्र की व्याख्या रूप—"ललित विस्तरा" ग्रन्थ में सूरि-पुरन्दर श्रीमद् हरिभद्रसूरीश्वर जी ने "कायोत्सर्ग" का महान् रहस्य इस प्रकार बताया है—

"**अन्नत्थ सूत्र**"—सहित अरिहन्त चेइयाणं सूत्र—चैत्यस्तव अथवा कायोत्सर्ग दण्डक कहलाता है, जिसमें ४३ पद, ८ सम्पदा एवं २२९ वर्ण होते हैं।

इस सूत्र का उच्चारण एवं कायोत्सर्ग "जिनमुद्रा"[1] के द्वारा किया जाता है।

इस सूत्र में कायोत्सर्ग का स्वीकार, निमित्त (प्रयोजन), हेतु (साधन), आगार, (काउस्सग में रखी हुई छूट), अवधि (मर्यादा) और उसके स्वरूप का वर्णन आठ सम्पदाओं द्वारा हुआ है। यह जानने से कायोत्सर्ग का महत्त्व समझ में आता है।

"अरिहन्त चेइयाणं—करेमि काउस्सग्गं" पद के द्वारा काया के उत्सर्ग अर्थात् त्याग करने की प्रतिज्ञा ली जाती है। प्रस्तुत सूत्र का अर्थ—

अरिहन्त चैत्यों अर्थात् जिन-प्रतिमाओं को वन्दन करने के लिए मैं (लाभार्थ) कायोत्सर्ग करता हूँ अर्थात् उच्छ्वास आदि आगारों के अतिरिक्त काया को एक स्थान पर स्थिर रखकर, वाणी को सर्वथा मौन रखकर, मन को शुभ ध्यान में लगाकर शेष प्रवृत्तियों का सर्वथा त्याग करता हूँ, अर्थात् मैं निश्चल ध्यान रूप समाधि में प्रवेश करता हूँ।

निमित्त—ऐसा निश्चल ध्यान अथवा समाधिस्वरूप कायोत्सर्ग करने के कारण स्पष्ट किये जाते हैं—

पापक्षपण, वन्दन, पूजन, सत्कार, बोधि (सम्यक्त्व) लाभ, निरुप-

---

१ जिस ध्यान आदि क्रिया में जिनेश्वर के समान मुद्रा रखी जाये वह, अथवा जिन राग-द्वेष आदि विघ्नों की विजेता मुद्रा अथवा जिसमें खड़े रहते समय दोनों पाँवों के अग्रभाग परस्पर चार अंगुल दूर और पिछला भाग उससे तनिक दूर रखा जाये वह "जिनमुद्रा" कहलाती है।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

द्रव-मोक्ष प्राप्ति के लिए और सम्यग्दृष्टि देव के स्मरणार्थ कायोत्सर्ग किया जाता है। प्रस्तुत सूत्र में वन्दन आदि छः कारणों के लिए कायोत्सर्ग का विधान है।

अरिहन्त परमात्मा की प्रतिमा चित्त की समाधि उत्पन्न करती है, अतः उनका वन्दन, पूजन (सुगन्धित पुष्पों आदि के द्वारा) सत्कार (श्रेष्ठ वस्त्र आभूषणों के द्वारा पूजन), सम्मान (स्तुति के द्वारा) करने से जो कर्मक्षय के रूप में महान लाभ प्राप्त होता है, वह लाभ इस कायोत्सर्ग के द्वारा भी होता है, तथा बोधिलाभ—जिनप्रणीतधर्म की प्राप्ति होती है। उस बोधिलाभ के द्वारा निरुपद्रव (जन्म, जरा, मृत्यु आदि उपद्रवों से रहित) अवस्था रूप मोक्ष प्राप्त होता है।

उपर्युक्त हेतुओं से कायोत्सर्ग किया जाता है।

इस प्रकार आठ प्रयोजन सिद्ध करने में समर्थ होने के कारण कायोत्सर्ग का अपूर्व सामर्थ्य सरलतापूर्वक समझा जा सकता है। कायोत्सर्ग में प्राप्त होने वाली मन, वचन और काया की स्थिरता (निश्चलता) के द्वारा पापों का क्षय होता है।

जिन वन्दन, पूजन, सत्कार और सम्मान के द्वारा जो फल प्राप्त हो सकता है वैसा फल कायोत्सर्ग से प्राप्त होता है और जिनप्रणीतधर्म (सम्यक्त्व आदि) की प्राप्ति होती है तथा क्रमशः मोक्षफल (अनन्त, अक्षय, अव्याबाध सुख) भी प्रकट हो सकता है।

कायोत्सर्ग का इतना अपूर्व सामर्थ्य प्रकट होने का कारण—

हेतु साधन[1]—उपर्युक्त सम्यक्त्व एवं मोक्षरूप कार्य को सिद्ध करने में समर्थ कायोत्सर्ग के प्रकृष्ट साधन, वृद्धि होती हुई श्रद्धा, मेधा, धृति, धारणा और अनुप्रेक्षा हैं। इनके द्वारा कायोत्सर्ग करने से इष्टफल सिद्ध होता है, परन्तु श्रद्धा के बिना किया गया कायोत्सर्ग सम्यक्त्व आदि फल उत्पन्न नहीं कर सकता।

---

१ "चैत्यवन्दन भाष्य" में कायोत्सर्ग करने के बारह निम्न कारण बताये गये हैं—
"चउ "तस्स उत्तरीकरण" पमुह "सद्धाइयाय" पण हेउ ॥
"वैयावच्च गरताइ" तिन्नि इउ हेउ बारसगं ॥ ५४ ॥"
"तस्सउत्तरीकरण" आदि चार, "श्रद्धा" आदि पाँच और वैयावृत्यकरण आदि आदि तीन—इस प्रकार बारह कारण (साधन) हैं।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

(१) **श्रद्धा**—निज आत्माभिलाषा रुचिरूप है।

मिथ्यात्वमोहनीयकर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न चित्त की प्रसन्नता ही श्रद्धा है (अर्थात् चित्त की प्रसन्नता रूप आत्मिक परिणाम)।

श्रद्धा का कार्य—इस प्रकार की श्रद्धा जीव आदि तत्वों का अनुकरण करती है अतः वह सत्य है यह प्रतीति कराती है।

संशय, भ्रम, विपर्यय अथवा अनध्यवसाय (समारोप) को दूर करती है।

शुभ-अशुभ कर्म, उनका फल, आत्मा के साथ कर्मों के सम्बन्ध आदि की वास्तविकता का ठोस विश्वास उत्पन्न करती है।

उदक प्रसादक मणि की तरह चित्त की मलिनता दूर करती है।

(२) **मेधा (बुद्धि)**—गहन ग्रन्थों का रहस्य ग्रहण करने में समर्थ आत्म-परिणाम को मेधा कहते हैं। यह ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न आत्मधर्म (गुण) है।

मेधा का कार्य—सत्शास्त्र के श्रवण आदि की प्रवृत्ति कराने वाली तथा मिथ्यात्व-पोषक शास्त्र के श्रवण से निवृत्ति कराने वाली मेधा गुरु की विनय आदि से प्राप्त होती है। मेधा प्राप्त होने से सद्ग्रन्थों (मोक्षमार्ग प्रकाशक) के प्रति परम उपादेय भाव (यही हितकारी है यह भाव) उत्पन्न होता है।

(३) **धृति**—(मन प्रणिधान) चित्त की एकाग्रता विशिष्ट प्रीति तन्मयतारूप है। यह धृति चारित्रमोहनीय कर्म के क्षयोपशम से जनित है; दीनता, उत्सुकता रहित, धीर, गम्भीर आशय स्वरूप है। निर्धन व्यक्ति को जिस प्रकार चिन्तामणि रत्न की प्राप्ति होने से दुःख दूर होने के कारण निर्भयता-निराकुलता आती है, उसी प्रकार से अपूर्व चिन्तामणि तुल्य जिनधर्म प्राप्त होने पर संसार का भय दूर होने से धृति प्रकट होती है।

(४) **धारणा**—प्रस्तुत ध्येय पदार्थ का अविस्मरण—उपयोग की स्थिरता ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम जनित चित्त का परिणाम है। यह अविच्युति (सतत उपयोग), वासना (संस्कार) और स्मृति (स्मरण) रूप भेद वाली है।

धारणा के द्वारा प्रस्तुत ध्येय-विषय का क्रम पूर्वक सतत स्मरण रहता है, जिससे स्थानादि योग में प्रवृत्त साधक को योग, ध्यान आदि गुणों

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

की श्रेणी प्राप्त होती है और उपयोगपूर्वक पिरोये जाते मोतियों की व्यवस्थित एवं सुन्दर माला तैयार होती हैं।

(५) **अनुप्रेक्षा**—तत्वार्थ का चिन्तन-मनन-परिशीलन करना, आत्म-तत्व आदि का पुनः-पुनः विचार करना उसे अनुप्रेक्षा कहते हैं। यह अनुप्रेक्षा भी ज्ञानावरणीयकर्म का क्षयोपशमजनित आत्म-परिणाम है।

अनुप्रेक्षा का कार्य—

यह अभ्यास विशेष से आत्म-तत्व की अनुभूति कराती है, परम संवेग उत्पन्न करती है, संवेग मोक्ष की तीव्र अभिलाषा को सुदृढ़ करती है, उत्तरोत्तर विशेष श्रद्धा उत्पन्न करती है और क्रमशः केवलज्ञान के सम्मुख ले जाती है।

जिस प्रकार रत्नशोधक अग्नि रत्न के चारों ओर फैलकर उसकी मलिनता को जलाकर रत्न को शुद्ध करती है, उसी प्रकार से अनुप्रेक्षा रूपी अग्नि आत्मा में फैल कर कर्म-मल को जला कर निर्मल केवलज्ञान उत्पन्न करती है, अर्थात् अनुप्रेक्षा एक प्रचण्ड ध्यान शक्ति है।

इस प्रकार श्रद्धा आदि पाँचों का स्वरूप बताकर उसके फल का प्रतिपादन करते हुए ग्रन्थकार महोदय श्रद्धा आदि में निहित शक्तियों का परिचय देते हैं।

महासमाधि के बीज—श्रद्धा, मेधा, धृति, धारणा और अनुप्रेक्षा-पूर्वक करणरूप महासमाधि के बीज (उपादान कारण) हैं, क्योंकि श्रद्धा आदि की उत्तरोत्तर वृद्धि होने पर जब उनकी परिपक्वता अतिशय हो जाती है तब अपूर्वकरणरूप समाधि प्रकट होती है।

परिपाचना (श्रद्धा आदि पाँचों की परिपक्वता) कुतर्कजनित मिथ्या विकल्पों का त्याग करके सत्शास्त्रों को श्रवण, पठन, अर्थ-प्रतीति और शास्त्रोक्त अनुष्ठान करने की तीव्र इच्छा तथा बार-बार तदनुसार प्रवृत्ति करने से श्रद्धा आदि पाँचों की परिपक्वता होती है।

परिपाचना का अतिशय—

जब शास्त्रोक्त सदनुष्ठान की प्रवृत्ति में स्थिरता आने पर उसकी सिद्धि होती है तब प्रधान परोपकार में हेतुभूत श्रद्धा आदि की "अतिशय" परिपक्वता सिद्ध होती है। अर्थात् उक्त परिपक्वता की अत्यन्त वृद्धि होती है और अपूर्वकरणरूप महासमाधि को उत्पन्न करती है।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

इस प्रकार श्रद्धा आदि पाँचों के द्वारा समाधि अथवा समापत्ति सिद्ध होती हैं।

(१) श्रद्धा एवं मेधा से चित्त की निर्मलता प्रकट होती है।

(२) धृति एवं धारणा से चित्त की स्थिरता प्रकट होती है।

(३) अनुप्रेक्षा की अतिशय-परिपक्वता के द्वारा तन्मयता प्रकट होती है तब "समापत्ति" सिद्ध होती है।

ध्याता, ध्येय और ध्यान की एकतारूप "समापत्ति" का पुनः पुनः अभ्यास होने से अपूर्वकरणरूप (समापत्ति) महासमाधि प्रकट होती है।

कायोत्सर्ग एवं समाधि की एकता—

इससे समझा जा सकता है कि श्रद्धा आदि पाँच जो कायोत्सर्ग के प्रकृष्ट साधनों के रूप में जाने जाते हैं वे श्रद्धा आदि समुच्चय ध्यान और समाधि के भी प्रधान साधन हैं, अतः कायोत्सर्ग समाधि स्वरूप ही है।

जिस वस्तु के बीज (कारण) समान हों, उनके फल भी समान ही होते हैं।

सदनुष्ठानों का फल समाधि (समापत्ति)—

यहाँ कायोत्सर्ग अथवा समाधि के प्रकृष्ट साधनों (हेतु) के रूप में जिस प्रकार श्रद्धा आदि का निर्देश दिया जाता है, उसी प्रकार से श्रद्धा आदि के साधनों के रूप में मिथ्याविकल्प के त्याग, शास्त्रश्रवण, प्रतीति, इच्छा योग और प्रवृत्ति योग आदि का भी निर्देश हुआ है। इसका रहस्य सरलता से समझ में आ सकता है कि शास्त्र-श्रवण, गुरु-विनय, जिन-दर्शन, पूजन, यम-नियम के पालन से श्रद्धा आदि की परिपक्वता की वृद्धि होती है और सदनुष्ठानों को निरन्तर करने से उनमें स्थिरता आने पर और उनमें सिद्धि प्राप्त होने पर श्रद्धा आदि की वृद्धि से अतिशय वेग आता है; अर्थात् श्रद्धा, मेधा, धृति एवं धारणा की अतिशय प्रबलता होने से अनुप्रेक्षारूप ध्यान अतिशय प्रबल होता है और तेलधारावत् अविच्छिन्न गति से चलता ध्यान-प्रवाह किसी से भी रोका नहीं जा सकता। अतः उसे अनाहत समतायोग भी कहते हैं।

इस प्रकार जब ध्यान अत्यन्त वीर्य (वेग) युक्त होता है तब अपूर्वकरणरूप महासमाधि प्रकट होती है। (इससे पूर्व हुई सदनुष्ठान की साधना और उससे प्रकट होते श्रद्धा आदि गुण "चरम यथाप्रवृत्तिकरण" के योग शक्तियों का संचय करते थे, क्योंकि उनकी प्रकृष्ट विशुद्धि से ही "अपूर्वकरण" रूप महासमाधि प्रकट हो सकती है।)

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

श्रद्धा आदि पांचों की प्राप्ति एवं वृद्धि क्रमशः ही होती है। यदि प्रथम श्रद्धा उत्पन्न हुई हो तो मेधा उत्पन्न होती है। इन दोनों की उपस्थिति में ही धृति प्रकट होती है—श्रद्धा आदि तीन के द्वारा धारणा उत्पन्न होती है और उन श्रद्धा आदि चारों की सहायता से ही क्रमशः अनुप्रेक्षा की शक्ति प्रकट होती है। अतः श्रद्धा आदि के अनुक्रम से हुआ उपन्यास हेतु युक्त है।

योग्य अधिकारी—"इन श्रद्धा आदि पाँचों की उत्तरोत्तर वृद्धि पूर्वक कायोत्सर्ग करता हूँ।" इसमें बताया गया है कि कायोत्सर्ग का योग्य अधिकारी कौन है ?

कायोत्सर्ग का योग्य अधिकारी वही हो सकता है कि जिसमें श्रद्धा आदि गुण उत्पन्न होते हों और उनकी वृद्धि होती हो। श्रद्धा आदि से विकल होने वाला व्यक्ति कायोत्सर्ग का सच्चा अधिकारी नहीं है। सच्चे अधिकारी में तो उस उस क्रिया के प्रति आदर आदि अवश्य प्रकट होता है। क्षयोपशम आदि के कारण मंद, मध्यम, उत्कृष्ट आदि अधिकारी के अनेक भेद हो सकते हैं।

आगार—कायोत्सर्ग में रखी गई छूटों का वर्णन "अन्नत्थ सूत्र" में "ऊससीएणं से हुज्ज मे काउं" तक हो चुका है—सांस लेना अथवा छोड़ना, खांसी, छींक, उबासी, डकार, अपानवायुत्याग, भमरी, वमन, सूक्ष्म अंग-संचालन, सूक्ष्म श्लेष्म-संचालन, सूक्ष्म दृष्टि संचार अथवा उजेही के प्रसंग पर, पंचेन्द्रिय की आड़, चोर तथा सर्पदंश के भय का प्रसंग।

उपर्युक्त कारणों से देह का संचालन हो तो भी कायोत्सर्ग की "प्रतिज्ञा" नहीं टूटे और निर्धारित कायोत्सर्ग अभंग रहे, इस हेतु से ये सोलह आगार (छूट) रखे जाते हैं।

आगारों का रहस्यार्थ—कायोत्सर्ग रूप महान् ध्यान योग की साधना में प्रवेश करते समय काया के समस्त स्थूल व्यापारों का निरोध किया जाता है, परन्तु जो सूक्ष्म स्पन्दन हैं, जिन्हें रोका नहीं जा सकता अथवा जिन्हें रोकने से स्वास्थ्य की हानि तथा जीव-हिंसा जैसी महान हानि होती हो ऐसे कारणों की छूट रखी जाती है ताकि कायोत्सर्ग की प्रतिज्ञा का भंग न हो।

इससे ज्ञात हो सकता है कि कायोत्सर्ग की महासाधना के लिए कैसी विलक्षण किलेबन्दी की जाती है, तथा ध्यानस्थ दशा में पर्याप्त कर्म-

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

निर्जरा सिद्ध होती होने पर भी "जीवरक्षा" के लिये उसे त्याग देने का विधान अहिंसा (दया) की आवश्यकता एवं समस्त अनुष्ठानों में उसकी प्रधानता सूचित करता है।

कोई शुष्कध्यानी ध्यान के लोभ से भी जीव-हिंसा की उपेक्षा करके निर्दय अथवा निष्ठुर न हो जाये उस हेतु से ही भाव-करुणा के भण्डार श्री तीर्थंकर एवं गणधर भगवन्तों ने इन आगारों का विधान किया है।

मर्यादा (अवधि)—कायोत्सर्ग का काल-प्रमाण "जाव अरिहंताणं, भगवन्ताणं, नमुक्कारेणं, न पारेमि"—इन चार पदों के द्वारा बताया गया है। अतः जब तक अरिहंत भगवन्तों को नमस्कार करके अर्थात् "नमो अरिहन्ताणं" पद का उच्चार करके नहीं पारूँ तब तक कायोत्सर्ग की अवस्था में रहूँगा।

कायोत्सर्ग का (जघन्य) कम से कम काल प्रमाण आठ श्वासोश्वास का होता है, तथा "इरियावहियं" में पच्चीस श्वासोश्वास का प्रमाण होता है, कभी-कभी सत्ताईस अथवा अठाईस श्वासोश्वास भी होते हैं। इस प्रकार जहाँ जितना प्रमाण बताया गया हो वहां उतना समय पूर्ण होने के पश्चात् "नमो अरिहन्ताणं" का उच्चारण करके काउस्सग पारना चाहिये। मर्यादित (निश्चित) समय से पूर्व "नमो अरिहन्ताणं" बोलकर काउस्सग पारा जाये तो कायोत्सर्ग का भंग होता है, तथा निश्चित समय व्यतीत होने के पश्चात् "नमो अरिहन्ताणं" कहकर पारे तो भी कायोत्सर्ग भंग होता है। इस प्रकार कायोत्सर्ग निश्चित काल प्रमाण से युक्त होता है।

चेष्टा एवं अभिभव के भेद से कायोत्सर्ग के दो भेद हैं—

(१) **चेष्टा**—जो कायोत्सर्ग गमनागमन के पश्चात्, विहार के पश्चात् दिन-रात्रि (देवसी राई आदि) पक्ष, चातुर्मास अथवा संवत्सर के अन्त में निश्चित प्रमाण में किया जाता है, उसे चेष्टा कायोत्सर्ग कहते हैं। उसका निश्चित काल प्रमाण इस प्रकार है—जघन्य से आठ श्वासोश्वास[1], उत्कृष्ट से १००८ श्वासोश्वास।

---

१ पाय सम उसासा—अर्थात् यहाँ कायोत्सर्ग में एक पाद (श्लोक का चौथाई भाग) उच्चारण काल को श्वासोश्वास समझें।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

(२) **अभिभव**—जो कायोत्सर्ग तितिक्षा, उपसर्ग, परीषह आदि सहन करने की शक्ति विकसित करने के लिये किया जाता है, उसे अभिभव कायोत्सर्ग कहते हैं। इसका समय प्रमाण अनिश्चित है, जो जघन्य से अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट से एक वर्ष प्रमाण भी हो सकता है। एक रात्रि की प्रतिमा आदि में भी अभिभव कायोत्सर्ग होता है।

कायोत्सर्ग का स्वरूप—"तावकायं ठाणेणं, मोणेणं, झाणेणं अप्पाणं वोसिरामि" पदों के द्वारा बताया गया है।

"अरिहन्त परमात्मा को नमस्कार करके नहीं पारूँ तब तक देह को एक स्थान पर रखकर, वाणी का व्यापार बन्द करके मौन धारण करके और मन को प्रशस्त (शुभ) धर्म ध्यान में लगाकर अपनी काया का त्याग करता हूँ।"

अतः कायोत्सर्ग में स्थान, मौन, ध्यानरूप क्रिया के अतिरिक्त अन्य क्रिया के अभ्यास को (मिथ्यारोप को) छोड़ देता हूँ, अर्थात् भुजाओं को लटकती हुई रखकर, वचन प्रहार को रोक कर, प्रशस्त ध्यान में तत्पर बना मैं एक स्थान पर खड़ा रहूँगा। इसके द्वारा कायोत्सर्ग का बाह्य और आन्तरिक स्वरूप बताया गया है।

कायोत्सर्ग में ध्येय—कायोत्सर्ग में ध्येय निश्चित नहीं होता अर्थात् ध्येय का कोई ऐसा निश्चित नियम नहीं कि येही चाहिए, परन्तु (परिणाम के अनुसार) जिस प्रकार अध्यवसाय (परिणाम) स्थिर एवं विशुद्ध हो उस प्रकार से ध्येय पसन्द किया जा सकता है, जैसे—

(१) **गुण**—परमात्मा के ज्ञान आदि गुणों का चिन्तन करना।

(२) **जीव, अजीव** आदि तत्व अथवा देव, गुरु, धर्मतत्व का चिन्तन करना।

(३) **स्थान** वर्ण, अर्थ, आलम्बन योग अर्थात् मुद्रा, अक्षर भावार्थ और प्रतिमा आदि आलम्बन में चित्त को स्थिर करना।

(४) **आत्मीय दोष प्रतिपक्ष**—स्वयं में विद्यमान राग, द्वेष, मोह आदि दोषों का निरीक्षण करके उनका निराकरण करने के लिए उनकी प्रतिपक्षी भावनाओं में उपयोग रखना आदि। उपर्युक्त गुण अथवा तत्व का चिन्तन आदि विद्या विवेक सम्यग्ज्ञान की उत्पत्ति के बीज हैं।

कायोत्सर्ग का फल—इस प्रकार ध्येय के चिन्तन से आत्मोपयोग निर्मल होता है। तथा शुभ भाव के द्वारा अबंध्य पुण्य (**पुण्यानुबंधी पुण्य**) का सृजन होता है।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

सम्पूर्ण संवर फल की प्राप्ति--

(१) कायोत्सर्ग में मन, वचन, काया का निरोध होने से मनोगुप्ति, वचनगुप्ति एवं कायगुप्ति सिद्ध होती है।

(२) कायोत्सर्ग में बाईस परीषह सम्यग प्रकार से सहन किये जाते हैं।

(३) क्षमा आदि यतिधर्मों का पालन होता है, तथा अनित्य आदि बारह भावनाएँ भावित होती हैं।

(४) कायोत्सर्ग के द्वारा सामायिक आदि पाँचों चारित्र प्राप्त होते हैं और उनमें स्थिरता आती हैं, जिससे कायोत्सर्ग के द्वारा समस्त प्रकार का संवर सिद्ध होता है, अर्थात् समस्त प्रकार के आस्रवों (कर्म बन्ध के हेतु) को रोका जाता है।

कायोत्सर्ग में समस्त आस्रवों का निरोध—

(१) पाँच इन्द्रियों के विषय का दमन होता है।

(२) क्रोध आदि कषायों पर विजय प्राप्त होती है।

(३) हिंसा, असत्य, चोरी, कामभोग और परिग्रह (मूर्च्छा) का त्याग होता है।

(४) मन, वचन और काया के अशुभ सावद्य व्यापारों का त्याग होता है।

(५) कायिकी आदि पच्चीस क्रियाओं का भी यथायोग्य रीति से गुण स्थानक के क्रम से निरोध होता है।

कायोत्सर्ग से कर्म-क्षय (निर्जरा)—

बारह (छः बाह्य और छः अभ्यन्तर) प्रकार के तपों से कर्मों की निर्जरा होती है।

कायोत्सर्ग यथायोग्य प्रकार से बारह प्रकार के तपों का आचरण होने से उसके द्वारा अपार कर्म-निर्जरा होती है।

(१) **अनशन**—कायोत्सर्ग के समय चारों प्रकार के आहार का सर्वथा त्याग होता है। इससे ही (२) उणोदरी, (३) वृत्ति-संक्षेप, (४) रस-त्याग (विगई का त्याग) भी सहज ही सिद्ध होता है।

(५) **काय-क्लेश**—कायोत्सर्ग के द्वारा काया का कष्ट समभाव से सहन करना पड़ता है।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

(६) **संलीनता**—कायोत्सर्ग में समस्त अंग-उपांगों का संकोच सहज ही हो जाता है।

इस प्रकार कायोत्सर्ग में बाह्य तप का आचरण सहज भाव से ही होता है, तथा अभ्यन्तर तप के भी समस्त भेद उसमें समाविष्ट हैं जो इस प्रकार है—

(१) **प्रायश्चित्त**—कायोत्सर्ग के द्वारा पाप का उच्छेद और चित्त की निर्मलता होती होने से वह प्रायश्चित्त का ही एक भेद है।

(२) **विनय**, (३) **वैयावच्च**—अरिहन्त परमात्मा की प्रतिमा को वन्दन, पूजन, सत्कार और सम्मान के लिये किये जाने वाले कायोत्सर्ग के द्वारा भाव-विनय एवं भाव वैयावच्च सिद्ध होता है।

(४) **स्वाध्याय**— कायोत्सर्ग में धारणा एवं अनुप्रेक्षा पूर्वक श्रुत-ज्ञान शास्त्रोक्त पदार्थों का चिन्तन होता है, तथा श्रुतस्कंध, अध्ययन एवं उद्देशा-रूप आगमों के पाठ लेना, उन्हें स्थायी करना तथा अनुज्ञा प्राप्त करने के लिये भी कायोत्सर्ग किया जाता है। अतः कायोत्सर्ग के द्वारा उस समय श्रुतज्ञान को ग्रहण करने का क्षयोपशम प्रकट होता है। इस प्रकार कायोत्सर्ग के द्वारा श्रुतज्ञान की आराधना होती है।

(५) **ध्यान**—कायोत्सर्ग में धर्मध्यान और शुक्लध्यान के समस्त प्रकारों के द्वारा ध्येय का चिन्तन हो सकता है, इस कारण वह विशिष्ट ध्यान योग ही है।

इस प्रकार कायोत्सर्ग के द्वारा समस्त प्रकार के प्रशस्त ध्यानों की सिद्धि होती है।

(६) **कायोत्सर्ग**—काया—देह का त्याग दो प्रकार से हो सकता है।

(१) अल्पकाल के लिए देहाध्यास (बहिरात्म भाव) का देह की चिन्ता अथवा ममता का त्याग।

(२) सदा के लिए सर्वदा काया का तथा देहाध्यास का त्याग।

प्रस्तुत कायोत्सर्ग के द्वारा दोनों प्रकार का त्याग सिद्ध हो सकता है। इस प्रकार कायोत्सर्ग के द्वारा समस्त प्रकार के तप की आराधना होती होने से पूर्ण कर्म-क्षय रूप निर्जरा को सिद्ध करती है।

इस प्रकार कायोत्सर्ग के द्वारा पुण्यानुबन्धी पुण्य, संवर और निर्जरा तत्त्व (मोक्ष के साधक तत्त्व) की सिद्धि होती है जिससे शीघ्र मोक्ष प्राप्त होता है।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

कायोत्सर्ग और जिनाज्ञा—

कायोत्सर्ग के द्वारा जिनाज्ञा का पूर्णतः पालन होता है।

आस्रव सर्वथा हेय (त्याज्य) है और संवर सदा उपादेय आचरणीय है। यह जिनेश्वरों की आज्ञा है, इसकी आराधना से मोक्ष प्राप्त होता है और उसकी विराधना भव में भ्रमण कराती है।

जिनशासन जिनाज्ञा स्वरूप है।

कायोत्सर्ग के द्वारा मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग-रूप आस्रवों का क्रमशः त्याग होता है और सम्यक्त्व, विरति, अप्रमाद, अकषाय एवं अयोगी दशारूप संवर का सेवन होता है। अत. कायोत्सर्ग के द्वारा समस्त प्रकार के संवर का सेवन होता होने से उसके द्वारा जिनशासन अथवा जिनाज्ञा की सम्पूर्ण आराधना होती है।

कायोत्सर्ग और योग —

कायोत्सर्ग के द्वारा इच्छा आदि, अध्यात्म आदि, स्थान आदि (भक्ति) योग आदि समस्त प्रकार के योगों की साधना हो सकती है, जिससे समस्त योगों का उसमें समावेश है।

(१) इच्छायोग, प्रवृत्तियोग, अध्यात्मयोग और भावनायोग के द्वारा श्रद्धा आदि का आधिक्य होता है और स्थैर्ययोग, सिद्धियोग के द्वारा श्रद्धा आदि परिपक्व होती है तब अपूर्वकरण रूप समाधि प्रकट होती है। तत्पश्चात क्रम से अनिवृत्तिकरण समाधि सिद्ध होने पर सम्यग्-दर्शन प्राप्त होता हैं।

(२) स्थान, वर्ण, अर्थ और आलम्बन योग के द्वारा कायोत्सर्ग में ध्येय का चिन्तन किया जाता है और इसके सतत अभ्यास से अनालम्बन योग प्रकट होता है।

(३) देशविरति श्रावक एवं सर्वविरति साधु कायोत्सर्ग ध्यान के द्वारा क्रम से विशिष्ट विशुद्धि प्राप्त करता हुआ इच्छायोग, शास्त्रयोग और सामर्थ्ययोग की भूमिका को प्राप्त करता है।

इस प्रकार कायोत्सर्ग के द्वारा समस्त योगों की साधना होती है। इस कारण यह समाधि स्वरूप है, समस्त योगों का सार है।

कायोत्सर्ग एवं शुद्धात्मानुभव —

कायोत्सर्ग सम्यग्ज्ञान और सम्यग् क्रिया स्वरूप है।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

इसमें भक्तियोग, ज्ञानयोग और चारित्र (कर्म) योग की आराधना के द्वारा परमात्मा के साथ, परमात्मा के शुद्ध द्रव्य-गुण एवं पर्याय के साथ तन्मयता होती है, तब चेतन द्रव्य की साधर्म्यता से स्वआत्मस्वरूप का परिचय होता है। स्व आत्मा के द्रव्य-गुण-पर्याय के चिन्तन में लीनता होने पर शुद्धात्मा के सुख और आनन्द की अनुभूति होती है, आत्मा और परमात्मा के मध्य का अन्तर (भेदभाव) समाप्त हो जाता है और आत्मा तथा देह की भिन्नता का भान होता है, जिससे देहाध्यास (अहिरात्म भाव) दूर होने पर अन्तरात्म-भाव में स्थिर होकर परमात्म-भावना उत्पन्न होती है।

परमात्म भावना से युक्त व्यक्ति स्वयं को परमात्म स्वरूप में अनुभव करे यही "शुद्धात्मानुभव" कहलाता है।

इस प्रकार कायोत्सर्ग के द्वारा शुद्ध आत्मानुभूति होती होने से यह शुद्ध समाधि स्वरूप है।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

दिवाकर प्रकाशन, 208/2 A-7 अवागढ़ हाऊस, अंजना सिनेमा के सामने,
एम. जी. रोड, आगरा-282002 के लिए विकास प्रिंटर्स में मुद्रित ।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

प्राकृत भारती अकादमी,
जयपुर के प्रकाशनों का प्राप्ति स्थान :

१. **प्राकृत भारती अकादमी**
३८२६, मोतीसिंह भोमियों का रास्ता, जयपुर–३०२ ००३

२. **श्री जैन श्वे० नाकोड़ा पार्श्वनाथ तीर्थ**
मेवानगर, स्टे० बालोतरा–३४४ ०२५
जि० बाड़मेर (राजस्थान)

३. **मोतीलाल बनारसीदास**
(अ) बंगला रोड़, जवाहर नगर, दिल्ली–११० ००७
(ब) चौक, वाराणसी–२२१ ००१
(स) अशोक राजपथ, पटना–८०० ००४
(द) २४, रेसकोर्स रोड़, बैंगलोर–५६० ००१
(य) १२०, रोयापेट्टा हाई रोड़, मैलापुर, मद्रास–६०० ००४

४. **आगम, अहिंसा, समता एवं प्राकृत संस्थान,**
पद्मिनी मार्ग, उदयपुर–३१३ ००१

५. **जैन भवन**
पी–२५, कलाकार स्ट्रीट, कलकत्ता–७०० ००७

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org